CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

शोध प्रबन्ध सार

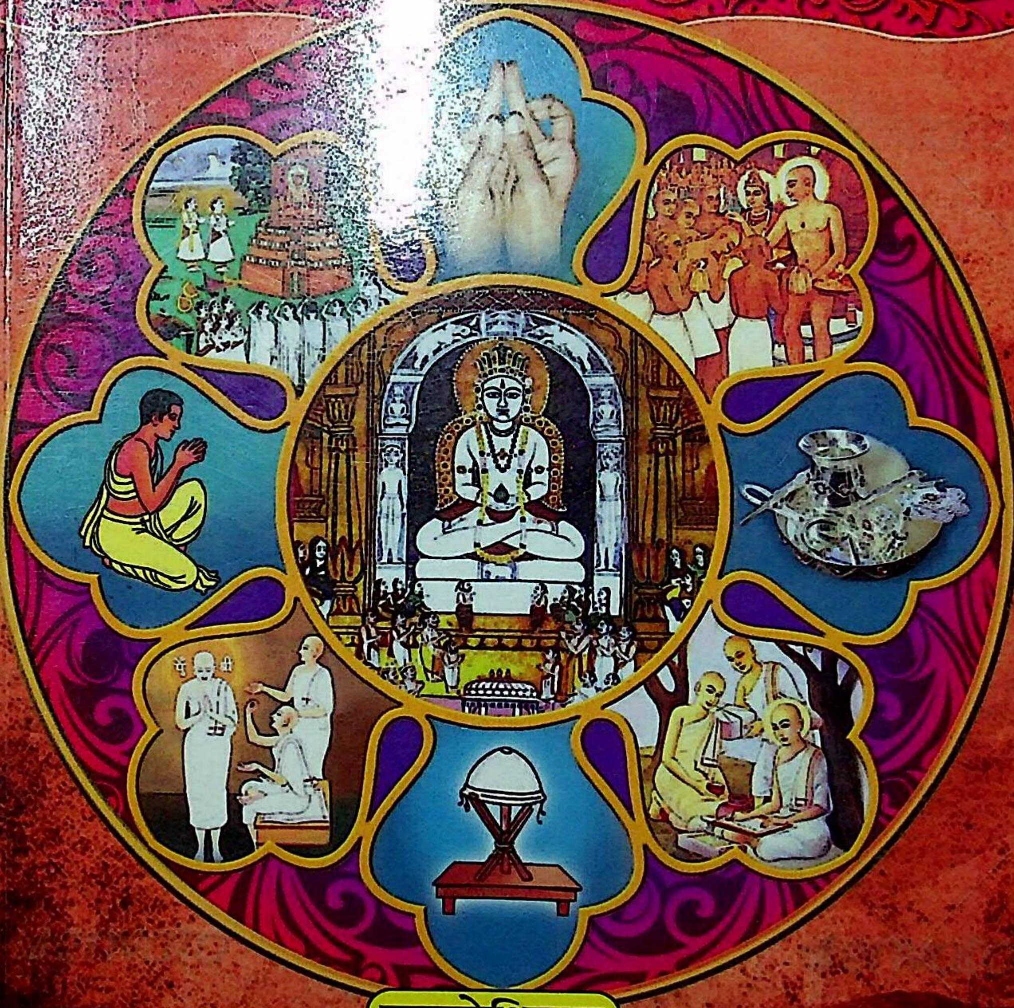

सम्बोधिका

पूज्या प्रवर्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा.

परम विदुषी शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री जिनदत्तसूरि अजमेर दादाबाड़ी

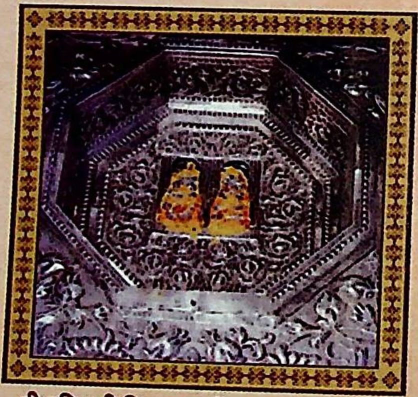

श्री मणिधारी जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी (दिल्ली)

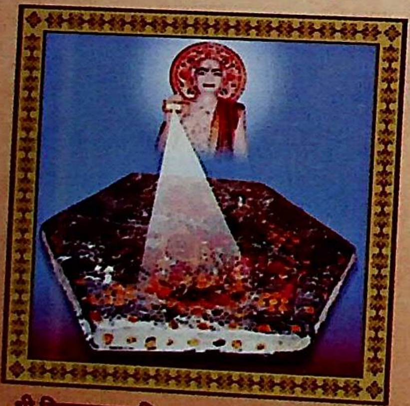

श्री जिनकुशलसूरि मालपुरा दादाबाड़ी (जयपुर)

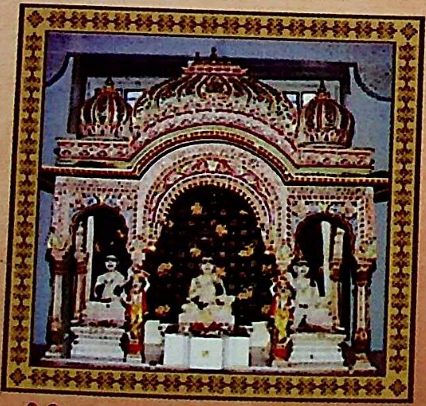

श्री जिनचन्द्रसूरि बिलाड़ा दादाबाड़ी (जोधपुर)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

14'5

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

(डी. लिट् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

शोध प्रबन्ध सार

श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान
5603
पुस्तक क्र.........
नरिया वाराणसी

R.J. 241 / 2007

णाणस्स सारमायारो

शोधार्थी
डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

निर्देशक
डॉ. सागरमल जैन

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय
लाडनूं-341306 (राज.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

(डी. लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

शोध प्रबन्ध सार

णाणस्स सारमायारो

स्वप्न शिल्पी

आगम मर्मज्ञा प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.

संयम श्रेष्ठा पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

मूर्त्त शिल्पी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

(विधि प्रभा)

शोध शिल्पी

डॉ. सागरमल जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन
शोध प्रबन्ध सार

कृपा वृष्टि : पूज्य आचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा.

मंगल वृष्टि : महामनस्वी पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

आनन्द वृष्टि : आगम ज्योति प्रवर्त्तिनी महोदया पूज्या सज्जन श्रीजी म.सा.

प्रेरणा वृष्टि : संघ रत्ना पूज्या गुरुवर्य्या श्री शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

वात्सल्य वृष्टि : गुर्वाज्ञा निमग्ना पूज्या प्रियदर्शना श्रीजी म.सा.

स्नेह वृष्टि : पूज्या दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्या तत्वदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्या सम्यक्दर्शना श्रीजी म.सा., पूज्या शुभदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्या मुदितप्रज्ञा श्रीजी म.सा., पूज्या शीलगुणा श्रीजी म.सा., सुयोग्या कनकप्रभाजी, सुयोग्या श्रुतदर्शनाजी, सुयोग्या संयमप्रज्ञाजी आदि भगिनी मण्डल

शोधकर्त्री : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)

ज्ञान वृष्टि : डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक :
- प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर-465001
  email : sagarmal.jain@gmail.com
- सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
  बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड, पालीताणा-364270

प्रथम संस्करण : सन् 2014

प्रतियाँ : 1000

सहयोग राशि : ₹ 50.00
(पुनः प्रकाशनार्थ)

कम्पोज : विमल चन्द्र मिश्र, वाराणसी

कॅवर सेटिंग : शम्भू भट्टाचार्य, कोलकाता

मुद्रक : Antartica Press, Kolkata

ISBN : 978-81-910801-6-2 (I)

© All rights reserved by Sajjan Mani Granthmala.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्ति स्थान

1. श्री सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
   बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड,
   पो. पालीताणा-364270 (सौराष्ट्र)
   फोन : 02848-253701

2. श्री कान्तिलालजी मुकीम
   श्री जिनरंगसूरि पौशाल, आड़ी बांस
   तल्ला गली, 31/A, पो. कोलकाता-7
   मो. 98300-14736

3. श्री भाईसा साहित्य प्रकाशन
   M.V. Building, Ist Floor
   Hanuman Road, PO : VAPI
   Dist. : Valsad-396191 (Gujrat)
   मो. 98255-09596

4. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
   I.T.I. रोड, करौंदी वाराणसी-5 (यू.पी.)
   मो. 09450546617

5. डॉ. सागरमलजी जैन
   प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड
   पो. शाजापुर-465001 (म.प्र.)
   मो. 94248-76545
   फोन : 07364-222218

6. श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर
   तीर्थ, कैवल्यधाम
   पो. कुम्हारी-490042
   जिला– दुर्ग (छ.ग.)
   मो. 98271-44296
   फोन : 07821-247225

7. श्री धर्मनाथ जैन मन्दिर
   84, अमन कोविल स्ट्रीट
   कोण्डी थोप, पो. चेन्नई-79 (T.N.)
   फोन : 25207936,
   044-25207875

8. श्री जिनकुशलसूरि जैन दादावाडी,
   महावीर नगर, केम्प रोड
   पो. मालेगाँव
   जिला- नासिक (महा.)
   मो. 9422270223

9. श्री सुनीलजी बोथरा
   टूल्स एण्ड हार्डवेयर,
   संजय गांधी चौक, स्टेशन रोड
   पो. रायपुर (छ.ग.)
   फोन : 94252-06183

10. श्री पदमचन्द चौधरी
    शिवजीराम भवन, M.S.B. का रास्ता,
    जौहरी बाजार
    पो. जयपुर-302003
    मो. 9414075821, 9887390000

11. श्री विजयराजजी डोसी
    जिनकुशल सूरि दादाबाड़ी
    89/90 गोविंदप्पा रोड
    बसवनगुडी, पो. बैंगलोर (कर्ना.)
    मो. 093437-31869

संपर्क सूत्र

श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत
9331032777
श्री रिखबचन्दजी झाड़चूर
9820022641
श्री नवीनजी झाड़चूर
9323105863
श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख
8719950000
श्री जिनेन्द्र बैद
9835564040
श्री पन्नाचन्दजी दूगड़
9831105908

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हृदयार्पण

जिनके उल्लेख एवं आलेखों से
मिला स्वर्णिम सहयोग।

जिनकी कृतियों से जुड़ा
तत्त्व चिंतन में मनोयोग।।

जिनके जीवन मंथन से
पाया ज्ञान नवनीत।

जिनके पुनीत मार्ग पर चलकर
लगी जिन वाणी से प्रीत।।

ऐसे

आगम आलोडक, तत्त्व विचारक, श्रुत संवर्धक
ज्ञान गगनांगण के दिव्य दिवाकर

समस्त ग्रन्थकारों को

सादर समर्पित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सज्जन स्वर लहरियाँ

इस कृति के माध्यम से
विधि-विधान का सम्यक स्वरूप
सबकी समझ में आ सके
जन-जीवन में इनका प्रभाव
नव उन्मेष को ला सके
पथ भ्रमित होता जन मानस
सन्मार्ग को अपना सके
आचार पक्ष एक नई दिशा एवं
उच्च लक्ष्य को पा सके
क्योंकि
आज फैल रहा है विलासिता का कलुषित साम्राज्य
चिहुं दिशि में बढ़ रही है विपरीत धारणाएँ
स्वाध्याय-संत समागम की कमी में
अंधानुकरण हो रहा पाशविक वृत्तियों का
नैतिक मूल्यों की विस्मृत स्थिति में
इन्हीं गूढ़ कलुषिताओं एवं कालिमाओं के निवारणार्थ
एक छोटी सी ओस बूंद ....

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हार्दिक अनुमोदना

राजस्थान भोपालगढ़ हाल कोलकाता निवासी

संघ गौरव दादा श्री मोहनराजजी-दादी श्री तीजा देवी की

उपकारक स्मृति

एवं

पिताश्री चन्द्रकुमारजी (लाला बाबू)-मातुश्री शकुंतलाजी

के कोलकाता से शिखरजी पैदल यात्रा की

चिरंजीवी स्मृति निमित्ते

सुपुत्र

उमेश-कल्पना, योगेश-पल्लवी

सुपौत्र

सिद्धान्त, भव्या, साक्षी मुणोत परिवार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान अभिवर्धन के पुण्य लाभार्थी
श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत परिवार

व्यक्तित्व गुणों का आइना है। सहजता, सरलता, विनम्रता, समर्पण एवं सेवा भावना आदि गुण जिनमें प्रतिबिम्बित होते हैं, उनके व्यक्तित्व में निर्मल आभा दमकती है, मन का कायाकल्प हो जाता है और बुद्धि की धार तेज हो जाती है। वाणी में मधुरता, सरलता, स्पष्टता आ जाती है तथा हृदय पारदर्शी बन जाता है। महर्षि चाणक्य ने कहा है– "गुणों से ही मानव महान बनता है, उच्च सिंहासन पर आसीन होने से नहीं। प्रासाद के उच्च शिखर पर बैठने से कौआ गरूड़ नहीं बन जाता।" गुणवान व्यक्ति ही महानता के पथ पर अग्रसर होता है। सेवा वृत्ति एक ऐसा गुण है जो जीवन में अन्य गुणों का निर्माण करती है जिन्दगी के पलों को सुन्दर एवं सुदृढ़ बनाती है।

कोलकात्ता नगर के ऐसे ही सेवानिष्ठ, संकल्प शक्ति के धनी एवं पद लालसा से रहित श्रावक हैं श्री चन्द्रकुमारजी (लाला बाबू) मुणोत। सम्पूर्ण कोलकाता समाज में आपकी छवि एक शान्त, निष्पक्ष, अल्पभाषी श्रावक के रूप में प्रतिष्ठित है। मूलत: भोपालगढ़ (राजस्थान) निवासी चन्द्रकुमारजी का जन्म सन् 1953 कोलकाता में हुआ। धर्मनिष्ठ श्री मोहनलालजी एवं धर्मपरायणा श्रीमती तेजीदेवी मुणोत का ज्येष्ठ पुत्र लाला के प्रति विशेष वात्सल्य था, क्योंकि माता-पिता के प्रति आपके मन में श्रवण तुल्य भक्ति एवं प्रभु वीर के समान आज्ञाकारिता थी। माता-पिता की इच्छा आपके लिए आदेशवत् होती थी। उनके इंगित इशारों या भावों से ही आप उनके हृदय की बात समझ जाते थे। इसी कारण माता-पिता के हृदय में भी आपके लिए अटूट स्नेह का समंदर लहराता था। Graduation करने के साथ-साथ आपने पिताश्री के व्यापार एवं जिम्मेदारियों को संभालना प्रारंभ कर दिया। किशोर अवस्था की मस्ती एवं अल्हडता को परे रख उम्र से पहले ही आप में परिपक्वता आ गई थी। किशोर अवस्था में ही आपने अपनी बौद्धिक प्रखरता एवं कर्तव्य परायणता का परिचय देना प्रारंभ कर दिया था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय संस्कृति में किशोरावस्था के डगमगाते कदमों को रोकने के लिए विवाह एक अपूर्व उपाय माना गया है। विवाह रूपी बंधन की बेड़ी व्यक्ति को सीमा में रहने की अमूल्य शिक्षा देती है।

शकुंतलाजी कालिदास की शकुंतला की भाँति ही जीवन के हर विषम मोड़ पर आपका प्रतिबिम्ब बनकर आपके साथ रहती है। वे आपके कर्त्तव्यों के प्रति ही नहीं अपितु धर्म कार्यों में भी पूर्ण रूपेण आपकी साझेदारी निभाती है। धर्म कार्यों के प्रति आपका उल्लास एवं तत्परता ने आपको समाज की वरिष्ठ एवं आदर्श महिलाओं में सम्मिलित कर दिया है। परमात्म भक्ति एवं वैयावच्च आपका कर्म क्षेत्र है। तप के प्रति रही तीव्र उत्कंठा एवं अनुमोदन भाव सन् 2012 में कल्पनाओं के गगन से साक्षात जमीन पर उतर आए। स्वप्न रूप लगने वाली आयम्बिल, उपवास आदि की तपस्या आपकी धर्मचर्या का अभिन्न अंग बन गई। यह सब आपकी धर्मनिष्ठा एवं गुरु श्रद्धा का ही परिणाम दिखाई देता है। सोने की चैन, तिलक, छत्र आदि आप प्रतिवर्ष समर्पित करती रहती हैं। मृदु व्यवहार एवं वाक् चातुर्य के कारण आप अपरिचित लोगों के साथ भी दूध में शक्कर के समान मिल जाती है।

लाला बाबू का जीवन कीचड़ में खिले हुए कमल की भाँति है। यद्यपि संसार में रहते हुए वे पूर्णरूपेण अपने दायित्वों का निर्वाह कर रहे हैं फिर भी सांसारिक क्रियाओं के प्रति आत्मरुचि एवं जुड़ाव नहींवत् है। आपका जीवन स्वार्थ से परे एवं स्वहित से ऊपर उठा हुआ है। अपने निमित्त से दूसरों को कष्ट देना, अपने लिए किसी प्रकार का खर्च करना या करवाना आपको पसंद नहीं है। बहुओं के प्रति आपके हृदय में पितृवत वात्सल्य है। आपकी बहुएँ आप में एक पिता का ही नहीं बल्कि एक देवता का रूप देखती हैं। आप उन्हें लक्ष्मी का रूप मानकर आदर ही नहीं बल्कि बेटियों सा स्नेह एवं आजादी भी देते हैं।

आपके जीवन में सदाचार, संपदा एवं सहिष्णुता का अद्भुत संग है। कोलकात्ता के विविध मन्दिर एवं व्यापारिक संस्थाओं के द्वारा वर्षों से आपको पद ग्रहण हेतु आमन्त्रित किया जा रहा है। परंतु आपके मन में उन सभी के प्रति अंश मात्र भी आसक्ति या आकर्षण नहीं है। आप प्रभु पूजा, सामायिक, रात्रि भोजन एवं जमीकंद त्याग आदि नियम से करते हैं।

गत 20 वर्षों से आप पूज्याश्री से जुड़े हुए हैं तथा उन्हीं को अपने आध्यात्मिक विकास में हेतुभूत मानते हैं। शारदा पुत्री साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोलकाता प्रवास एवं 2011 के बड़ा बाजार चातुर्मास ने आपको रत्नान्वेशी से आत्मान्वेशी बना दिया है। आपने उन्हें अपने गुरु रूप में तो माना ही है परन्तु एक बहन के रूप में भी उन्हें जीवन में स्थान दिया है। कोलकाता में रहते हुए उनके प्रतिदिन दर्शन करना आपका अटल नियम था। आप अपनी तरफ से अपनी बहन महाराज का चातुर्मास करवाने की भावना भी रखते हैं। कोलकाता से शिखरजी विहार में आपने समस्त व्यापारिक कार्य छोड़कर अपनी अमूल्य सेवाएँ प्रदान की।

आप अपने सद्गुणों की आभा को बढ़ाते हुए इसी भाँति आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर रहें एवं अपने सद्गुणी जीवन के द्वारा जिनशासन की बगिया को महकाते रहें। विदुषी बहन महाराज के समस्त साहित्य को आप प्रकाशित करवाना चाहते थे। परंतु इन भावों को साकार रूप देना संभव नहीं था अतः आपके भावों की उत्कंठा देखते हुए 21 ग्रंथों की शोध सारांशिका जिसमें समस्त विषयों का संक्षिप्त वर्गीकरण है उसके प्रकाशन का पुण्य लाभ आपको प्राप्त हुआ है। अंत में आपके गुण मंडित जीवन के लिए यही कहेंगे–

वह सीपी ही क्या जिसके भीतर चमक न हो
वह मोती ही क्या जिसमें पानी की दमक न हो
जीवन जीने को तो जीते है हर जीव जगत में
पर वह जीवन ही क्या जिसमें चन्द्र गुणों की महक न हों।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशीर्वचन

आज मन अत्यन्त आनंदित है। जिनशासन की बगिया को महकाने एवं उसे विविध रंग-बिरंगे पुष्पों से सुरभित करने का जो स्वप्न हर आचार्य देखा करता है आज वह स्वप्न पूर्णाहुति की सीमा पर पहुँच गया है। खरतरगच्छ की छोटी सी फुलवारी का एक सुविकसित सुयोग्य पुष्प है साध्वी सौम्यगुणाजी जिसकी महक से आज सम्पूर्ण जगत सुगन्धित हो रहा है।

साध्वीजी के कृतित्व ने साध्वी समाज के योगदान को चिरस्मृत कर दिया है। आर्या चन्दनबाला से लेकर अब तक महावीर के शासन को प्रगतिशील रखने में साध्वी समुदाय का विशेष सहयोग रहा है।

विदुषी साध्वी सौम्यगुणाजी की अध्ययन रसिकता, ज्ञान प्रौढ़ता एवं श्रुत तल्लीनता से जैन समाज अक्षरशः परिचित है। आज वर्षों का दीर्घ परिश्रम जैन समाज के समक्ष 23 खण्डों के रूप में प्रस्तुत हो रहा है।

साध्वीजी ने जैन विधि-विधान के विविध पक्षों को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उद्घाटित कर इसकी त्रैकालिक प्रासंगिकता को सुसिद्ध किया है। इन्होंने श्रावक एवं साधु के लिए आचरणीय अनेक विधि-विधानों का ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, समीक्षात्मक, तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए निष्पक्ष दृष्टि से विविध परम्पराओं में प्राप्त इसके स्वरूप को भी स्पष्ट किया है।

साध्वीजी इसी प्रकार जैन श्रुत साहित्य को अपनी कृतियों से रोशन करती रहे एवं अपने ज्ञान गांभीर्य का रसास्वादन सम्पूर्ण जैन समाज को करवाती रहे, यही कामना करता हूँ। अन्य साध्वी मण्डल इनसे प्रेरणा प्राप्त कर अपनी अतुल क्षमता से संघ-समाज को लाभान्वित करें एवं जैन साहित्य की अनुद्घाटित परतों को खोलने का प्रयत्न करें, जिससे आने वाली भावी पीढ़ी जैनागमों के रहस्यों का रसास्वादन कर पाएं। इसी के साथ धर्म से विमुख एवं विश्रृंखलित होता जैन समाज विधि-विधानों के महत्त्व को समझ पाए तथा वर्तमान में फैल रही भ्रान्त मान्यताएँ एवं आडंबर सम्यक दिशा को प्राप्त कर सकें। पुनश्च मैं साध्वीजी को उनके प्रयासों के लिए साधुवाद देते हुए यह मंगल कामना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता हूँ कि वे इसी प्रकार साहित्य उत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर रहें एवं साहित्यान्वेषियों की प्रेरणा बनें।

आचार्य कैलास सागर सूरि, नाकोड़ा तीर्थ

हर क्रिया की अपनी एक विधि होती है। विधि की उपस्थिति व्यक्ति की मर्यादा भी देती है और उस क्रिया के प्रति संकल्प-बद्ध रहते हुए पुरुषार्थ करने की प्रेरणा भी। यही कारण है कि जिन शासन में हर क्रिया की अपनी एक स्वतंत्र विधि है।

प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन उपलब्ध होता है कि भरत महाराजा ने हर श्रावक के गले में सम्यक दर्शन,सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप त्रिरत्नों की जनोई धारण करवाई थी। कालान्तर में जैन श्रावकों में यह परम्परा विलुप्त हो गई। दिगम्बर श्रावकों में आज भी यह परम्परा गतिमान है।

जिस प्रकार ब्राह्मणों में सोलह संस्कारों की विधि प्रचलित है। ठीक उसी प्रकार जैन ग्रन्थों में भी सोलह संस्कारों की विधि का उल्लेख है। आचार्य श्री वर्धमानसूरि खरतरगच्छ की रूद्रपल्लीय शाखा में हुए पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के विद्वान आचार्य थे। आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में इन सोलह संस्कारों का विस्तृत निरूपण किया गया है। हालांकि गहन अध्ययन करने पर मालूम होता है कि आचार्य श्री वर्धमानसूरि पर तत्कालीन ब्राह्मण विधियों का पर्याप्त प्रभाव था, किन्तु स्वतंत्र विधि-ग्रन्थ के हिसाब से उनका यह ग्रन्थ अद्भुत एवं मौलिक है।

साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन गृहस्थ के व्रत ग्रहण संबंधी विधि विधानों पर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करके प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। यह बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ साबित होगा, इसमें कोई शंका नहीं है। साध्वी सौम्यगुणाजी सामाजिक दायित्वों में व्यस्त होने पर भी चिंतनशील एवं पुरुषार्थशील हैं। कुछ वर्ष पूर्व में विधिमार्गप्रपा नामक ग्रन्थ पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर अपनी विद्वत्ता की अनूठी छाप समाज पर छोड़ चुकी हैं।

मैं हार्दिक भावना करता हूँ कि साध्वीजी की अध्ययनशीलता लगातार बढ़ती रहे और वे शासन एवं गच्छ की सेवा में ऐसे रत्न उपस्थित करती रहें।

उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी भी धर्म दर्शन में उपासनाओं का विधान अवश्यमेव होता है। विविध भारतीय धर्म-दर्शनों में आध्यात्मिक उत्कर्ष हेतु अनेक प्रकार से उपासनाएँ बतलाई गई हैं। जीव मात्र के कल्याण की शुभ कामना करने वाले हमारे पूज्य ऋषि मुनियों द्वारा शील-तप-जप आदि अनेक धर्म आराधनाओं का विधान किया गया है।

प्रत्येक उपासना का विधि-क्रम अलग-अलग होता है। साध्वीजी ने जैन विधि विधानों का इतिहास और तत्सम्बन्धी वैविध्यपूर्ण जानकारियाँ इस ग्रन्थ में दी है। ज्ञान उपासिका साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी ने खूब मेहनत करके इसका सुन्दर संयोजन किया है।

भव्य जीवों को अपने योग्य विधि-विधानों के बारे में बहुत-सी जानकारियाँ इस ग्रन्थ के द्वारा प्राप्त हो सकती है।

मैं ज्ञान निमग्ना साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि इन्होंने चतुर्विध संघ के लिए उपयोगी सामग्री से युक्त ग्रन्थों का संपादन किया है।

मैं कामना करता हूँ कि इसके माध्यम से अनेक ज्ञानपिपासु अपना इच्छित लाभ प्राप्त करेंगे।

आचार्य पद्मसागर सूरि

विनयाद्यनेक गुणगण गरीमायमाना विदुषी साध्वी श्री शशिप्रभा श्रीजी एवं सौम्यगुणा श्रीजी आदि सपरिवार सादर अनुवन्दना सुखशाता के साथ।

आप शाता में होंगे। आपकी संयम यात्रा के साथ ज्ञान यात्रा अविरत चल रही होगी।

आप जैन विधि विधानों के विषय में शोध प्रबंध लिख रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञान का मार्ग अनंत है। इसमें ज्ञानियों के तात्पर्यार्थ के साथ प्रामाणिकता पूर्ण व्यवहार होना आवश्यक रहेगा।

आप इस कार्य में सुंदर कार्य करके ज्ञानोपासना द्वारा स्वश्रेय प्राप्त करें ऐसी शासन देव से प्रार्थना है।

आचार्य राजशेखर सूरि, भद्रावती तीर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महत्तरा श्रमणीवर्या श्री शशिप्रभाश्री जी
योग अनुवंदना!

आपके द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त हुआ। इसी के साथ 'शोध प्रबन्ध सार' को देखकर ज्ञात हुआ कि आपकी शिष्या साध्वी सौम्यगुणा श्री द्वारा किया गया बृहदस्तरीय शोध कार्य जैन समाज एवं श्रमण-श्रमणी वर्ग हेतु उपयोगी जानकारी का कारण बनेगा।

आपका प्रयास सराहनीय है।

श्रुत भक्ति एवं ज्ञानाराधना स्वपर के आत्म कल्याण का कारण बने यही शुभाशीर्वाद।

आचार्य रत्नाकरसूरि

जो कर रहे स्व-पर उपकार
अन्तर्हृदय से उनको अमृत उद्गार

मानव जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठ भूमियों पर आधृत है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (Straight like highway) है न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent) न घाटी का उतार (descent) है अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है। उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती। कभी चढ़ाव (Ups) आते हैं तो कभी उतार (Downs) और कभी कोई अवरोध (Speed Breaker) आ जाता है तो कभी कोई (trun) भी आ जाता है। कुछ अवरोध और मोड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति-प्रगति और सन्मति लड़खड़ा जाती है, रुक जाती है इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूल समायोजन स्थापित करने के लिए जैन दर्शन के आप्त मनीषियों ने प्रमुखतः दो प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख किया है— 1. बाह्य विधि-विधान 2. आन्तरिक विधि-विधान।

बाह्य विधि-विधान के मुख्यतः चार भेद हैं— 1. जातीय विधि-विधान 2. सामाजिक विधि-विधान 3. वैधानिक विधि-विधान 4. धार्मिक विधि-विधान।

1. जातीय विधि-विधान— जाति की समुत्कर्षता के लिए अपनी-अपनी जाति में एक मुखिया या प्रमुख होता है जिसके आदेश की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वीकार करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। मुखिया नैतिक जीवन के विकास हेतु उचित-अनुचित विधि-विधान निर्धारित करता है। उन विधि-विधानों का पालन करना ही नैतिक चेतना का मानदण्ड माना जाता है।

2. सामाजिक विधि-विधान– नैतिक जीवन को जीवंत बनाए रखने के लिए समाज अनेकानेक आचार-संहिता का निर्धारण करता है। समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। समाज में पीढ़ियों से चले आने वाले सज्जन पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार समाज का विधि-विधान कहलाता है। जो इन विधि-विधानों का आचरण करता है, वह पुरुष सत्पुरुष बनने की पात्रता का विकास करता है।

3. वैधानिक विधि-विधान– अनैतिकता-अनाचार जैसी हीन प्रवृत्तियों से मुक्त करवाने हेतु राज सत्ता के द्वारा अनेकविध विधि-विधान बनाए जाते हैं। इन विधि-विधानों के अन्तर्गत 'यह करना उचित है' अथवा 'यह करना चाहिए' आदि तथ्यों का निरूपण रहता है। राज सत्ता द्वारा आदेशित विधि-विधान का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इन नियमों का पालन करने से चेतना अशुभ प्रवृत्तियों से अलग रहती है।

4. धार्मिक विधि-विधान– इसमें आप्त पुरुषों के आदेश-निर्देश, विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य निर्धारित रहते हैं। जैन दर्शन में "आणाए धम्मो" कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गये हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है तो आप्त के अनुसार यह कर्म अनैतिकता की कोटि में आता है। धार्मिक विधि-विधान जो अर्हत् आदेशानुसार है उसका धर्माचरण करता हुआ वीर साधक अकुतोभय हो जाता है अर्थात वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता। यही सद्व्यवहार धर्म है तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों की नैतिकता एवं अनैतिकता का मानदण्ड माना गया है।

लौकिक एषणाओं से विमुक्त, अरहन्त प्रवाह में विलीन, अप्रमत्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वाध्याय रसिका साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन वाङ्मय की अनमोल कृति खरतरगच्छाचार्य श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित **विधिमार्गप्रपा** में गुम्फित जाज्वल्यमान विषयों पर अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्यतः चार भाग (23 खण्डों) में वर्गीकृत करने का अतुलनीय कार्य किया है। शोध ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण हेतु प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन आज्ञा का निरूपण किसी परम्परा के दायरे में नहीं प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर किया है। प्रस्तुत कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है। बुद्धिवाद के इस युग में विधि-विधान को एक नव्य-भव्य स्वरूप प्रदान करने का सुन्दर, समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। आत्म पिपासुओं के लिए एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह श्रुत निधि आत्म सम्मानार्जन, भाव परिष्कार और आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

अल्प समयावधि में साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जिस प्रमाणिकता एवं दार्शनिकता से जिन वचनों को परम्परा के आग्रह से रिक्त तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं के दुराग्रह से मुक्त रखकर सर्वग्राही श्रुत का निष्पादन जैन वाङ्मय के क्षितिज पर नव्य नक्षत्र के रूप में किया है। आप श्रुत साभिरुचि में निरन्तर प्रवहमान बनकर अपने निर्णय, विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा सदैव सरल, सरस और सुगम अभिनव ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित करती रहें। यही अन्तःकरण आशीर्वाद सह अनेकशः अनुमोदना... अभिनंदन।

जिनमहोदय सागर सूरि चरणरज
मुनि पीयूष सागर

जैन विधि की अनमोल निधि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. द्वारा "जैन-विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" इस विषय पर सुविस्तृत शोध प्रबन्ध सम्पादित किया गया है। वस्तुतः किसी भी कार्य या व्यवस्था के सफल निष्पादन में विधि (Procedure) का अप्रतिम महत्त्व है। प्राचीन कालीन संस्कृतियाँ चाहे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह वैदिक हो या श्रमण, इससे अछूती नहीं रही। श्रमण संस्कृति में अग्रगण्य है– जैन संस्कृति। इसमें विहित विविध विधि-विधान वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन के विकास में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

इस शोध प्रबन्ध की प्रकाशन वेला में हम साध्वीश्री के कठिन प्रयत्न की आत्मिक अनुमोदना करते हैं। निःसंदेह, जैन विधि की इस अनमोल निधि से श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, विद्वान-विचारक सभी लाभान्वित होंगे। यह विश्वास करते हैं कि वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए भी यह कृति अति प्रासंगिक होगी, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें आचार-पद्धति यानि विधि-विधानों का वैज्ञानिक पक्ष भी ज्ञात होगा और वह अधिक आचार-निष्ठ बन सकेगी।

साध्वीश्री इसी प्रकार जिनशासन की सेवा में समर्पित रहकर स्व-पर विकास में उपयोगी बनें, यही मंगलकामना।

मुनि महेन्द्रसागर
1.2.13 भद्रावती

विदुषी आर्या साध्वीजी भगवंत श्री सौम्यगुणा श्रीजी सादर अनुवंदना सुखशाता !

आप सुखशाता में होंगे।

ज्ञान साधना की खूब अनुमोदना!

वर्तमान संदर्भ में जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध पढ़ा।

आनंद प्रस्तुति एवं संकलन अद्भुत है।

जिनशासन की सभी मंगलकारी विधि एवं विधानों का संकलन यह प्रबन्ध की विशेषता है।

विज्ञान-मनोविज्ञान एवं परा विज्ञान तक पहुँचने का यह शोध ग्रंथ पथ प्रदर्शक अवश्य बनेगा।

जिनवाणी के मूल तक पहुँचने हेतु विधि-विधान परम आलंबन है। यह शोध प्रबन्ध अनेक जीवों के लिए मार्गदर्शक बनेगा। सही मेहनत की अनुमोदना।

नयपद्म सागर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'जैन विधि विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' शोध प्रबन्ध के सार का पल्लवग्राही निरीक्षण किया।

शक्ति की प्राप्ति और शक्ति की प्रसिद्धि जैसे आज के वातावरण में श्रुत सिंचन के लिए दीर्घ वर्षों तक किया गया अध्ययन स्तुत्य और अभिनंदनीय है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रवर्त्तित परम्परा विरोधी आधुनिकता के प्रवाह में बहे बिना श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग के अनुरूप होने वाली किसी भी प्रकार की श्रुत भक्ति स्व-पर कल्याणकारी होती है।

शोध प्रबन्ध का व्यवस्थित निरीक्षण कर पाना सम्भव नहीं हो पाया है परन्तु उपरोक्त सिद्धान्त का पालन हुआ हो उस तरह की तमाम श्रुत भक्ति की हार्दिक अनुमोदना होती ही है।

आपके द्वारा की जा रही श्रुत सेवा सदा-सदा के लिए मार्गस्थ या मार्गानुसारी ही बनी रहे ऐसी एक मात्र अंतर की शुभाभिलाषा।

संयम बोधि विजय

विदुषी आर्या रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन विधि विधानों पर विविध पक्षीय बृहद शोध कार्य संपन्न किया है। चार भागों में विभाजित एवं 23 खण्डों में वर्गीकृत यह विशाल कार्य निःसंदेह अनुमोदनीय, प्रशंसनीय एवं अभिनंदनीय है।

शासन देव से प्रार्थना है कि उनकी बौद्धिक क्षमता में दिन दुगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञान गुण की वृद्धि के साथ आत्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनें।

यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं की पिपासा को शान्त करे, यही मनोहर अभिलाषा।

महत्तरा मनोहर श्री चरणरज
प्रवर्त्तिनी कीर्तिप्रभा श्रीजी

दूध को दही में परिवर्तित
करना सरल है। जामन डालिए
और दही तैयार हो जाता है।
किन्तु, दही से मक्खन निकालना
कठिन है। इसके लिए दही को
मथना पड़ता है। तब कहीं
जाकर मक्खन प्राप्त होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकार अध्ययन एक
अपेक्षा से सरल है, किन्तु
तुलनात्मक अध्ययन कठिन है।
इसके लिए कई शास्त्रों को
मथना पड़ता है।

साध्वी सौम्यगुणा श्री ने जैन
विधि-विधानों पर रचित साहित्य
का मंथन करके एक सुंदर चिंतन
प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है
वह अत्यंत अनुमोदनीय एवं
प्रशंसनीय है।

शुभकामना व्यक्त
करती हूँ कि यह
शास्त्र मंथन अनेक साधकों
के कर्मबंधन तोड़ने में
सहायक बने।

साध्वी संवेगनिधि

सुश्रावक श्री कान्तिलालजी मुकीम द्वारा शोध प्रबंध सार संप्राप्त हुआ। विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाजी के शोधसार ग्रन्थ को देखकर ही कल्पना होने लगी कि शोध ग्रन्थ कितना विराट्काय होगा। वर्षों के अथक परिश्रम एवं सतत रुचि पूर्वक किए गए कार्य का यह सुफल है। वैदुष्य सह विशालता इस शोध ग्रन्थ की विशेषता है।

हमारी हार्दिक शुभकामना है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका बहुमुखी विकास हो। जिनशासन के गगन में उनकी प्रतिभा, पवित्रता एवं पुण्य का दिव्यनाद हो। किं बहुना!

साध्वी मणिप्रभा श्री
भद्रावती तीर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंगल नाद

जैन दर्शन अपने आप में एक संपूर्ण दर्शन है। चाहे धर्म हो या कर्म, अध्यात्म हो या विज्ञान, व्यवहार हो या निश्चय मानव सभ्यता के सभी पक्षों का इसमें सुन्दर, सहज एवं सुगम वर्णन है। इन्हीं विविध आयामों में से एक बृहद एवं महत्त्वपूर्ण आयाम है विधि-विधान।

यद्यपि आज विधि विधान का अभिप्राय मात्र प्रतिष्ठा, अंजन शलाका, महापूजन आदि अनुष्ठानों तक सीमित समझा जाता है परन्तु वस्तुत: इसका स्वरूप अति विस्तृत है। सम्पूर्ण Theoritical और Practical क्रियाएँ विधि विधान के अंतर्गत ही समाविष्ट हो जाती हैं।

विधि विधान के माध्यम से मानव के आचार-विचार आदि को एक सम्यक दिशा प्राप्त होती है। जीवन शैली सुव्यवस्थित होती है।

यह Life Management का सफल सूत्र है। जहाँ श्रावकाचार और श्रमणाचार सम्बन्धी संहिताएँ उन्हें अपने आचार में सुदृढ़ एवं परिपक्व करती है वहीं प्रतिक्रमण, तप, सामायिक आदि साधनाएँ उन्हें आध्यात्मिक उच्चता के साथ शारीरिक स्वस्थता प्रदान करती है। पूजा-प्रतिष्ठा आदि बृहद् अनुष्ठान सामाजिक संगठन को परिपुष्ट कर आपसी सौहार्द को वर्धित करते हैं।

विधि-विधान के इसी सुविस्तृत रूप को सहज गम्य बनाने के लिए जैनाचार सम्बन्धी विधि-विधानों को मुख्य रूप से चार भागों में वर्गीकृत करते हुए उसके विविध प्रकारों एवं मुख्य पक्षों का विदुषी साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने सुंदर रूप में निरूपण किया है।

इस विस्तृत शोध कार्य से जैन समाज को अनुपम लाभ मिलेगा। प्रस्तुत शोध सारांशिका के माध्यम से पाठक वर्ग विधियों से संक्षिप्त रूप में परिचित हो पाएगा तथा आत्म रुचि के अनुसार विवेच्य विषयों का विस्तृत अध्ययन कर सकेगा।

प्रिय आत्मज्ञ साध्वी सौम्याजी ने विधि ग्रन्थों की क्रम बद्ध एवं विषय बद्ध रचना करके मात्र श्रुत संवर्धन ही नहीं किया है अपितु समाज को एक विशिष्ट उपहार भी दिया है। सामुदायिक एवं सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए अध्ययन एवं लेखन के प्रति उनकी कटिबद्धता और समरसता अनुमोदनीय एवं आश्चर्यपरक है।

शोध ग्रन्थों की यह श्रृंखला अनवरत रूप से चलती रहे। इसी के साथ साध्वीजी अपने ज्ञान बल एवं बुद्धि बल के द्वारा जिनशासन को इसी तरह संवर्धित करती रहे, यही आत्मीय मंगल कामना।

आर्य्या शशिप्रभाश्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीक्षा गुरु प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.
एक परिचय

रजताभ रजकणों से रंजित राजस्थान असंख्य कीर्ति गाथाओं का वह रश्मि पुंज है जिसने अपनी आभा के द्वारा संपूर्ण धरा को देदीप्यमान किया है। इतिहास के पन्नों में जिसकी पावन पाण्डुलिपियाँ अंकित है ऐसे रंगीले राजस्थान का विश्रुत नगर है जयपुर। इस जौहरियों की नगरी ने अनेक दिव्य रत्न इस वसुधा को अर्पित किए। उन्हीं में से कोहिनूर बनकर जैन संघ की आभा को दीप्त करने वाला नाम है– पूज्या प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.।

आपश्री इस कलियुग में सतयुग का बोध कराने वाली सहज साधिका थी। चतुर्थ आरे का दिव्य अवतार थी। जयपुर की पुण्य धरा से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। आपके जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे– जन्म, विवाह, दीक्षा, देह विलय आदि इसी वसुधा की साक्षी में घटित हुए।

आपका जीवन प्राकृतिक संयोगों का अनुपम उदाहरण था। जैन परम्परा के तेरापंथी आम्नाय में आपका जन्म, स्थानकवासी परम्परा में विवाह एवं मन्दिरमार्गी खरतर परम्परा में प्रव्रज्या सम्पन्न हुई। आपके जीवन का यही त्रिवेणी संगम रत्नत्रय की साधना के रूप में जीवन्त हुआ।

आपका जन्म वैशाखी बुद्ध पूर्णिमा के पर्व दिवस के दिन हुआ। आप उन्हीं के समान तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म योगी, प्रज्ञाशील साधक थी। सज्जनता, मधुरता, सरलता, सहजता, संवेदनशीलता, परदुःखकातरता आदि गुण तो आप में जन्मतः परिलक्षित होते थे। इसी कारण आपका नाम सज्जन रखा गया और यही नाम दीक्षा के बाद भी प्रवर्त्तित रहा।

संयम ग्रहण हेतु दीर्घ संघर्ष करने के बावजूद भी आपने विनय, मृदुता, साहस एवं मनोबल डिगने नहीं दिया। अन्ततः 35 वर्ष की आयु में पूज्या प्रवर्त्तिनी ज्ञान श्रीजी म.सा. के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की।

दीवान परिवार के राजशाही ठाठ में रहने के बाद भी संयमी जीवन का हर छोटा-बड़ा कार्य आप अत्यंत सहजता पूर्वक करती थी। छोटे-बड़े सभी की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेवा हेतु सदैव तत्पर रहती थी। आपका जीवन सद्गुणों से युक्त विद्वत्ता की दिव्य माला था। आप में विद्यमान गुण शास्त्र की निम्न पंक्तियों को चरितार्थ करते थे–

शीलं परहितासक्ति, रनुत्सेकः क्षमा धृतिः।
अलोभश्चेति विद्यायाः, परिपाकोज्ज्वलं फलः ।।

अर्थात शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य, निर्लोभता आदि विद्या की पूर्णता के उज्ज्वल फल हैं।

अहिंसा, तप साधना, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता, विनम्रता एवं विद्वानों के प्रति असीम श्रद्धा उनकी विद्वत्ता की परिधि में शामिल थे। वे केवल पुस्तकें पढ़कर नहीं अपितु उन्हें आचरण में उतार कर महान बनी थी। आपको शब्द और स्वर की साधना का गुण भी सहज उपलब्ध था।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात आप 20 वर्षों तक गुरु एवं गुरु भगिनियों की सेवा में जयपुर रही। तदनन्तर कल्याणक भूमियों की स्पर्शना हेतु पूर्वी एवं उत्तरी भारत की पदयात्रा की। आपश्री ने 65 वर्ष की आयु और उसमें भी ज्येष्ठ महीने की भयंकर गर्मी में सिद्धाचल तीर्थ की नव्वाणु यात्रा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में धर्म की सरिता प्रवाहित करते हुए भी आप सदैव ज्ञानदान एवं ज्ञानपान में संलग्न रहती थी। इसी कारण लोक परिचय, लोकैषणा, लोकाशंसा आदि से अत्यंत दूर रही।

आपश्री प्रखर वक्ता, श्रेष्ठ साहित्य सर्जिका, तत्त्व चिंतिका, आशु कवयित्री एवं बहुभाषाविद थी। विद्वदवर्ग में आप सर्वोत्तम स्थान रखती थी। हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं पर आपका सर्वाधिकार था। जैन दर्शन के प्रत्येक विषय का आपको मर्मस्पर्शी ज्ञान था। आप ज्योतिष, व्याकरण, अलंकार, साहित्य, इतिहास, शकुन शास्त्र, योग आदि विषयों की भी परम वेत्ता थी।

उपलब्ध सहस्र रचनाएँ तथा अनुवादित सम्पादित एवं लिखित साहित्य आपकी कवित्व शक्ति और विलक्षण प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

प्रभु दर्शन में तन्मयता, प्रतिपल आत्म रमणता, स्वाध्याय मग्नता, अध्यात्म लीनता, निस्पृहता, अप्रमत्तता, पूज्यों के प्रति लघुता एवं छोटों के प्रति मृदुता आदि गुण आपश्री में बेजोड़ थे। हठवाद, आग्रह, तर्क-वितर्क,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहंकार, स्वार्थ भावना का आप में लवलेश भी नहीं था। सभी के प्रति समान स्नेह एवं मृदु व्यवहार, निरपेक्षता एवं अंतरंग विरक्तता के कारण आप सर्वजन प्रिय और आदरणीय थी।

आपकी गुण गरिमा से प्रभावित होकर गुरुजनों एवं विद्वानों द्वारा आपको आगम ज्योति, शास्त्र मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, अध्यात्म योगिनी आदि सार्थक पदों से अलंकृत किया गया। वहीं सकल श्री संघ द्वारा आपको साध्वी समुदाय में सर्वोच्च प्रवर्तिनी पद से भी विभूषित किया गया।

आपश्री के उदात्त व्यक्तित्व एवं कर्मशील कर्तृत्व से प्रभावित हजारों श्रद्धालुओं की आस्था को 'श्रमणी' अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में लोकार्पित किया गया। खरतरगच्छ परम्परा में अब तक आप ही एक मात्र ऐसी साध्वी हैं जिन पर अभिनन्दन ग्रन्थ लिखा गया है।

आप में समस्त गुण चरम सीमा पर परिलक्षित होते थे। कोई सद्‌गुण ऐसा नहीं था जिसके दर्शन आप में नहीं होते हो। जिसने आपको देखा वह आपका ही होकर रह गया।

आपके निरपेक्ष, निस्पृह एवं निरासक्त जीवन की पूर्णता जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में मान्य, शाश्वत आराधना तिथि **'मौन एकादशी'** पर्व के दिन हुई। इस पावन तिथि के दिन आपने देह का त्याग कर सदा के लिए मौन धारण कर लिया। आपके इस समाधिमरण को श्रेष्ठ मरण के रूप में सिद्ध करते हुए उपाध्याय मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने लिखा है-

महिमा तेरी क्या गाये हम, दिन कैसा स्वीकार किया।
मौन ग्यारस माला जपते, मौन सर्वथा धार लिया
गुरुवर्य्या तुम अमर रहोगी, साधक कभी न मरते हैं।।

आज परम पूज्या संघरत्ना शशिप्रभा श्रीजी म.सा. आपके मंडल का सम्यक संचालन कर रही हैं। यद्यपि आपका विचरण क्षेत्र अल्प रहा परंतु आज आपका नाम दिग्दिगन्त व्याप्त है। आपके नाम स्मरण मात्र से ही हर प्रकार की Tension एवं विपदाएँ दूर हो जाती है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिक्षा गुरु पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.
एक परिचय

'धोरों की धरती' के नाम से विख्यात राजस्थान अगणित यशोगाथाओं का उद्‌भव स्थल है। इस बहुरत्ना वसुंधरा पर अनेकशः वीर योद्धाओं, परमात्म भक्तों एवं ऋषि-महर्षियों का जन्म हुआ है। इसी रंग-रंगीले राजस्थान की परम पुण्यवंती साधना भूमि है श्री फलौदी। नयन रम्य जिनालय, दादाबाड़ियों एवं स्वाध्याय गुंज से शोभायमान उपाश्रय इसकी ऐतिहासिक धर्म समृद्धि एवं शासन समर्पण के प्रबल प्रतीक हैं। इस मातृभूमि ने अपने उर्वरा से कई अमूल्य रत्न जिनशासन की सेवा में अर्पित किए हैं। चाहे फिर वह साधु-साध्वी के रूप में हो या श्रावक-श्राविका के रूप में। वि.सं. 2001 की भाद्रकृष्णा अमावस्या को धर्मनिष्ठ दानवीर ताराचंदजी एवं सरल स्वभावी बालादेवी गोलेछा के गृहांगण में एक बालिका की किलकारियां गूंज रही थी। अमावस्या के दिन उदित हुई यह किरण भविष्य में जिनशासन की अनुपम किरण बनकर चमकेगी यह कौन जानता था? कहते हैं सज्जनों के सम्पर्क में आने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं तब सम्यकदृष्टि जीव तो निःसन्देह सज्जन का संग मिलने पर स्वयमेव ही महानता को प्राप्त कर लेते हैं।

किरण में तप त्याग और वैराग्य के भाव जन्मजात थे। इधर पारिवारिक संस्कारों ने उसे अधिक उफान दिया। पूर्वोपार्जित सत्संस्कारों का जागरण हुआ और वह भुआ महाराज उपयोग श्रीजी के पथ पर अग्रसर हुई। अपने बाल मन एवं कोमल तन को गुरु चरणों में समर्पित कर 14 वर्ष की अल्पायु में ही किरण एक तेजस्वी सूर्य रश्मि से शीतल शशि के रूप में प्रवर्त्तित हो गई। आचार्य श्री कवीन्द्र सागर सूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में मरूधर ज्योति मणिप्रभा श्रीजी एवं आपकी बड़ी दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई।

इसे पुण्य संयोग कहें या गुरु कृपा की फलश्रुति? आपने 32 वर्ष के गुरु सान्निध्य काल में मात्र एक चातुर्मास गुरुवर्य्याश्री से अलग किया और वह भी पूज्या प्रवर्त्तिनी विचक्षण श्रीजी म.सा. की आज्ञा से। 32 वर्ष की सान्निध्यता में आप कुल 32 महीने भी गुरु सेवा से वंचित नहीं रही। आपके जीवन की यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेषता पूज्यवरों के प्रति सर्वात्मना समर्पण, अगाध सेवा भाव एवं गुरुकुल वास के महत्त्व को इंगित करती है।

आपश्री सरलता, सहजता, सहनशीलता, सहृदयता, विनम्रता, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता आदि अनेक दिव्य गुणों की पुंज हैं। संयम पालन के प्रति आपकी निष्ठा एवं मनोबल की दृढ़ता यह आपके जिन शासन समर्पण की सूचक है। आपका निश्छल, निष्कपट, निर्दम्भ व्यक्तित्व जनमानस में आपकी छवि को चिरस्थापित करता है। आपश्री का बाह्य आचार जितना अनुमोदनीय है, आंतरिक भावों की निर्मलता भी उतनी ही अनुशंसनीय है। आपकी इसी गुणवत्ता ने कई पथ भ्रष्टों को भी धर्माभिमुख किया है। आपका व्यवहार हर वर्ग के एवं हर उम्र के व्यक्तियों के साथ एक समान रहता है। इसी कारण आप आबाल वृद्ध सभी में समादृत हैं। हर कोई बिना किसी संकोच या हिचक के आपके समक्ष अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है 'सन्त हृदय नवनीत समाना'– आपका हृदय दूसरों के लिए मक्खन के समान कोमल और सहिष्णु है। वहीं इसके विपरीत आप स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। आपश्री अपने नियमों के प्रति अत्यन्त दृढ़ एवं अतुल मनोबली हैं। आज जीवन के लगभग सत्तर बसंत पार करने के बाद भी आप युवाओं के समान अप्रमत्त, स्फुर्तिमान एवं उत्साही रहती हैं। विहार में आपश्री की गति समस्त साध्वी मंडल से अधिक होती है।

आहार आदि शारीरिक आवश्यकताओं को आपने अल्पायु से ही सीमित एवं नियंत्रित कर रखा है। नित्य एकाशना, पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान आदि के प्रति आप अत्यंत चुस्त हैं। जिस प्रकार सिंह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु पूर्णत: सचेत एवं तत्पर रहता है वैसे ही आपश्री विषय-कषाय रूपी शत्रुओं का दमन करने में सतत जागरूक रहती हैं। विषय वर्धक अधिकांश विगय जैसे– मिठाई, कढ़ाई, दही आदि का आपके सर्वथा त्याग है।

आपश्री आगम, धर्म दर्शन, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि विविध विषयों की ज्ञाता एवं उनकी अधिकारिणी है। व्यावहारिक स्तर पर भी आपने एम.ए. के समकक्ष दर्शनाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की है। अध्ययन के संस्कार आपको गुरु परम्परा से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुए हैं। आपकी निश्रागत गुरु भगिनियों एवं शिष्याओं के अध्ययन, संयम पालन तथा आत्मोकर्ष के प्रति आप सदैव सचेष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहती हैं। आपश्री एक सफल अनुशास्ता हैं यही वजह है कि आपकी देखरेख में सज्जन मण्डल की फुलवारी उन्नति एवं उत्कर्ष को प्राप्त कर रही हैं।

तप और जप आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 'ॐ ह्रीं अर्हं' पद की रटना प्रतिपल आपके रोम-रोम में गुंजायमान रहती है। जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आप तदनुकूल मन:स्थिति बना लेती हैं। आप हमेशा कहती हैं कि

जो-जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

आपकी परमात्म भक्ति एवं गुरुदेव के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा दर्शनीय है। आपका आगमानुरूप वर्तन आपको निसन्देह महान पुरुषों की कोटी में उपस्थित करता है। आपश्री एक जन प्रभावी वक्ता एवं सफल शासन सेविका हैं।

आपश्री की प्रेरणा से जिनशासन की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहयोगी अनेकश: जिनमंदिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। श्रुत साहित्य के संवर्धन में आपश्री के साथ आपकी निश्रारत साध्वी मंडल का भी विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक 25-30 पुस्तकों का लेखन-संपादन आपकी प्रेरणा से साध्वी मंडल द्वारा हो चुका है एवं अनेक विषयों पर कार्य अभी भी गतिमान है।

भारत के विविध क्षेत्रों का पद भ्रमण करते हुए आपने अनेक क्षेत्रों में धर्म एवं ज्ञान की ज्योति जागृत की है। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, छ.ग., यू.पी., बिहार, बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड, आन्ध्रप्रदेश आदि अनेक प्रान्तों की यात्रा कर आपने उन्हें अपनी पदरज से पवित्र किया है। इन क्षेत्रों में हुए आपके ऐतिहासिक चातुर्मासों की चिरस्मृति सभी के मानस पटल पर सदैव अंकित रहेगी। अन्त में यही कहूँगी-

चिन्तन में जिसके हो क्षमता, वाणी में सहज मधुरता हो।
आचरण में संयम झलके, वह श्रद्धास्पद बन जाता है।
जो अन्तर में ही रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।
जो भीतर में ही भ्रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।।

ऐसी विरल साधिका आर्यारत्न पूज्याश्री के चरण सरोजों में मेरा जीवन सदा भ्रमरवत् गुंजन करता रहे, यही अन्तरकामना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साध्वी सौम्याजी की शोध यात्रा के यादगार पल

साध्वी प्रियदर्शनाश्री

आज सौम्यगुणाजी को सफलता के इस उत्तुंग शिखर पर देखकर ऐसा लग रहा है मानो चिर रात्रि के बाद अब यह मनभावन अरुणिम वेला उदित हुई हो। आज इस सफलता के पीछे रहा उनका अथक परिश्रम, अनेकश: बाधाएँ, विषय की दुरूहता एवं दीर्घ प्रयास के विषय में सोचकर ही मन अभिभूत हो जाता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से लेकर फल प्राप्ति तक अनेक प्रकार से स्वयं को तपाता एवं खपाता है और तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है या फिर जब कोई माता नौ महीने तक गर्भ में बालक को धारण करती है तब उसे मातृत्व सुख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार सौम्यगुणाजी ने भी इस कार्य की सिद्धि हेतु मात्र एक या दो वर्ष नहीं अपितु सत्रह वर्ष तक निरन्तर कठिन साधना की है। इसी साधना की आँच में तपकर आज 23 Volumes के बृहद् रूप में इनका स्वर्णिम कार्य जन ग्राह्य बन रहा है।

आज़ भी एक-एक घटना मेरे मानस पटल पर फिल्म के रूप में उभर रही है। ऐसा लगता है मानो अभी की ही बात हो, सौम्याजी को हमारे साथ रहते हुए 28 वर्ष होने जा रहे हैं और इन वर्षों में इन्हें एक सुन्दर सलोनी गुड़िया से एक विदुषी शासन प्रभाविका, गूढ़ान्वेषी साधिका बनते देखा है। एक पाँचवीं पढ़ी हुई लड़की आज D.LIt की पदवी से विभूषित होने वाली है। वह भी कोई सामान्य D.Lit. नहीं, 22-23 भागों में किया गया एक बृहद् कार्य और जिसका एक-एक भाग एक शोध प्रबन्ध (Thesis) के समान है। अब तक शायद ही किसी भी शोधार्थी ने डी.लिट् कार्य इतने अधिक Volumes में सम्पन्न किया होगा। लाडनूं विश्वविद्यालय की प्रथम डी.लिट्. शोधार्थी सौम्याजी के इस कार्य ने विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक कार्यों में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ते हुए श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सत्रह वर्ष पहले हम लोग पूज्या गुरुवर्य्याश्री के साथ पूर्वी क्षेत्र की स्पर्शना कर रहे थे। बनारस में डॉ. सागरमलजी द्वारा आगम ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को जानने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का यह एक स्वर्णिम अवसर था अतः सन् 1995 में गुर्वाज्ञा से- मैं, सौम्याजी एवं नूतन दीक्षित साध्वीजी ने भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी की ओर अपने कदम बढ़ाए। शिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए हम लोग धर्म नगरी काशी पहुँचे।

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वहाँ के मन्दिरों एवं पंडितों के मंत्रनाद से दूर नीरव वातावरण में अद्भुत शांति का अनुभव करवा रहा था। अध्ययन हेतु मनोज्ञ एवं अनुकूल स्थान था। संयोगवश मरूधर ज्योति पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की निश्रावर्ती, मेरी बचपन की सखी पूज्या विद्युतप्रभा श्रीजी आदि भी अध्ययनार्थ वहाँ पधारी थी।

डॉ. सागरमलजी से विचार विमर्श करने के पश्चात आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा पर शोध करने का निर्णय लिया गया। सन् 1973 में पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. बंगाल की भूमि पर पधारी थी। स्वाध्याय रसिक आगमज्ञ श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री भँवलालजी नाहटा से पूज्याश्री की पारस्परिक स्वाध्याय चर्चा चलती रहती थी। एकदा पूज्याश्री ने कहा कि मेरी हार्दिक इच्छा है जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो। पूज्याश्री योग-संयोग वश उसका अनुवाद नहीं कर पाई। विषय का चयन करते समय मुझे गुरुवर्य्या श्री की वही इच्छा याद आई या फिर यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सौम्याजी की योग्यता देखते हुए शायद पूज्याश्री ने ही मुझे इसकी अन्तस् प्रेरणा दी।

यद्यपि यह ग्रंथ विधि-विधान के क्षेत्र में बहु उपयोगी था परन्तु प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण उसका हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक हो गया। सौम्याजी के शोध की कठिन परीक्षाएँ यहीं से प्रारम्भ हो गई। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत व्याकरण का ज्ञान किया। तत्पश्चात दिन-रात एक कर पाँच महीनों में ही इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद अपनी क्षमता अनुसार कर डाला। लेकिन यहीं पर समस्याएँ समाप्त नहीं हुई। सौम्यगुणाजी जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से दर्शनाचार्य (एम.ए.) थीं, बनारस में पी-एच.डी. हेतु आवेदन नहीं कर सकती थी। जिस लक्ष्य को लेकर आए थे वह कार्य पूर्ण नहीं होने से मन थोड़ा विचलित हुआ परन्तु विश्वविद्यालय के नियमों के कारण हम कुछ भी करने में असमर्थ थे अतः पूज्य गुरुवर्य्याश्री के चरणों में पहुँचने हेतु पुनः कलकत्ता की ओर प्रयाण किया। हमारा वह चातुर्मास संघ आग्रह के कारण पुनः कलकत्ता नगरी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में हुआ। वहाँ से चातुर्मास पूर्णकर धर्मानुरागी जनों को शीघ्र आने का आश्वासन देते हुए पूज्याश्री के साथ जयपुर की ओर विहार किया। जयपुर में आगम ज्योति, पूज्या गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की समाधि स्थली मोहनबाड़ी में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन था अत: उग्र विहार कर हम लोग जयपुर पहुँचें। बहुत ही सुन्दर और भव्य रूप में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जयपुर संघ के अति आग्रह से पूज्याश्री एवं सौम्यगुणाजी का चातुर्मास जयपुर ही हुआ। जयपुर का स्वाध्यायी श्रावक वर्ग सौम्याजी से काफी प्रभावित था। यद्यपि बनारस में पी-एच.डी. नहीं हो पाई थी किन्तु सौम्याजी का अध्ययन आंशिक रूप में चालू था। उसी बीच डॉ. सागरमलजी के निर्देशानुसार जयपुर संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. शीतलप्रसाद जैन के मार्गदर्शन में धर्मानुरागी श्री नवरतनमलजी श्रीमाल के डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास से उनका रजिस्ट्रेशन हुआ। सामाजिक जिम्मेदारियों को संभालते हुए उन्होंने अपने कार्य को गति दी।

पी-एच.डी. का कार्य प्रारम्भ तो कर लिया परन्तु साधु जीवन की मर्यादा, विषय की दुरूहता एवं शोध आदि के विषय में अनुभवहीनता से कई बाधाएँ उत्पन्न होती रही। निर्देशक महोदय दिगम्बर परम्परा के होने से श्वेताम्बर विधि-विधानों के विषय में उनसे भी विशेष सहयोग मिलना मुश्किल था अत: सौम्याजी को जो करना था अपने बलबूते पर ही करना था। यह सौम्याजी ही थी जिन्होंने इतनी बाधाओं और रूकावटों को पार कर इस शोध कार्य को अंजाम दिया।

जयपुर के पश्चात कुशल गुरुदेव की प्रत्यक्ष स्थली मालपुरा में चातुर्मास हुआ। वहाँ पर लाइब्रेरी आदि की असुविधाओं के बीच भी उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया। तदनन्तर जयपुर में एक महीना रहकर महोपाध्याय विनयसागरजी से इसका करेक्शन करवाया तथा कुछ सामग्री संशोधन हेतु डॉ. सागरमलजी को भेजी। यहाँ तक तो उनकी कार्य गति अच्छी रही किन्तु इसके बाद लम्बे विहार होने से उनका कार्य प्राय: अवरूद्ध हो गया। फिर अगला चातुर्मास पालीताणा हुआ। वहाँ पर आने वाले यात्रीगणों की भीड़ और तप साधना-आराधना में अध्ययन नहींवत ही हो पाया। पुन: साधु जीवन के नियमानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर कदम बढ़ाए। रायपुर (छ.ग.) जाने हेतु लम्बे विहारों के चलते वे अपने कार्य को किंचित भी संपादित नहीं कर पा रही थी। रायपुर पहुँचते-पहुँचते Registration की अवधि अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी थी अत: चातुर्मास के पश्चात मुदितप्रज्ञा श्रीजी और इन्हें रायपुर छोड़कर शेष लोगों ने अन्य आसपास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के क्षेत्रों की स्पर्शना की। रायपुर निवासी सुनीलजी बोथरा के सहयोग से दो-तीन मास में पूरे काम को शोध प्रबन्ध का रूप देकर उसे सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। येन केन प्रकारेण इस शोध कार्य को इन्होंने स्वयं की हिम्मत से पूर्ण कर ही दिया।

तदनन्तर 2002 का बैंगलोर चातुर्मास सम्पन्न कर मालेगाँव पहुँचे। वहाँ पर संघ के प्रयासों से चातुर्मास के अन्तिम दिन उनका शोध वायवा संपन्न हुआ और उन्हें कुछ ही समय में पी-एच.डी. की पदवी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई। सन् 1995 बनारस में प्रारम्भ हुआ कार्य सन् 2003 मालेगाँव में पूर्ण हुआ। इस कालावधि के दौरान समस्त संघों को उनकी पी-एच.डी. के विषय में ज्ञात हो चुका था और विषय भी रुचिकर था अत: उसे प्रकाशित करने हेतु विविध संघों से आग्रह होने लगा। इसी आग्रह ने उनके शोध को एक नया मोड़ दिया। सौम्याजी कहती 'मेरे पास बताने को बहुत कुछ है, परन्तु वह प्रकाशन योग्य नहीं है' और सही मायने में शोध प्रबन्ध सामान्य जनता के लिए उतना सुगम नहीं होता अत: गुरुवर्य्या श्री के पालीताना चातुर्मास के दौरान विधिमार्गप्रपा के अर्थ का संशोधन एवं अवान्तर विधियों पर ठोस कार्य करने हेतु वे अहमदाबाद पहुँची। इसी दौरान पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. ने भी इस कार्य का पूर्ण सर्वेक्षण कर उसमें अपेक्षित सुधार करवाए। तदनन्तर L.D. Institute के प्रोफेसर जितेन्द्र भाई, फिर कोबा लाइब्रेरी से मनोज भाई सभी के सहयोग से विधिमार्गप्रपा के अर्थ में रही त्रुटियों को सुधारते हुए उसे नवीन रूप दिया।

इसी अध्ययन काल के दौरान जब वे कोबा में विधि ग्रन्थों का आलोडन कर रही थी तब डॉ. सागरमलजी का बायपास सर्जरी हेतु वहाँ पदार्पण हुआ। सौम्याजी को वहाँ अध्ययनरत देखकर बोले– "आप तो हमारी विद्यार्थी हो, यहाँ क्या कर रही हो? शाजापुर पधारिए मैं यथासंभव हर सहयोग देने का प्रयास करूँगा।" यद्यपि विधि विधान डॉ. सागरमलजी का विषय नहीं था परन्तु उनकी ज्ञान प्रौढ़ता एवं अनुभव शीलता सौम्याजी को सही दिशा देने हेतु पर्याप्त थी। वहाँ से विधिमार्गप्रपा का नवीनीकरण कर वे गुरुवर्य्याश्री के साथ मुम्बई चातुर्मासार्थ गईं। महावीर स्वामी देरासर पायधुनी से विधिप्रपा का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ।

किसी भी कार्य में बार-बार बाधाएँ आए तो उत्साह एवं प्रवाह स्वत: मन्द हो जाता है, परन्तु सौम्याजी का उत्साह विपरीत परिस्थितियों में भी वृद्धिंगत रहा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुम्बई का चातुर्मास पूर्णकर वे शाजापुर गईं। वहाँ जाकर डॉ. साहब ने डी.लिट करने का सुझाव दिया और लाडनूं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्हीं के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन भी हो गया। यह लाडनूं विश्व भारती का प्रथम डी.लिट. रजिस्ट्रेशन था। सौम्याजी से सब कुछ ज्ञात होने के बाद मैंने उनसे कहा– प्रत्येक विधि पर अलग-अलग कार्य हो तो अच्छा है और उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु जब कार्य प्रारम्भ किया था तब वह इतना विराट रूप ले लेगा यह अनुमान भी नहीं था। शाजापुर में रहते हुए इन्होंने छ:सात विधियों पर अपना कार्य पूर्ण किया। फिर गुर्वाज्ञा से कार्य को बीच में छोड़ पुन: गुरुवर्य्या श्री के पास पहुँची। जयपुर एवं टाटा चातुर्मास के सम्पूर्ण सामाजिक दायित्वों को संभालते हुए पूज्याश्री के साथ रही।

शोध कार्य पूर्ण रूप से रूका हुआ था। डॉ.साहब ने सचेत किया कि समयावधि पूर्णता की ओर है अत: कार्य शीघ्र पूर्ण करें तो अच्छा रहेगा वरना रजिस्ट्रेशन रद्द भी हो सकता है। अब एक बार फिर से उन्हें अध्ययन कार्य को गति देनी थी। उन्होंने लघु भगिनी मण्डल के साथ लाइब्रेरी युक्त शान्त-नीरव स्थान हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। इस बार लक्ष्य था कि कार्य को किसी भी प्रकार से पूर्ण करना है। उनकी योग्यता देखते हुए श्री संघ एवं गुरुवर्य्या श्री उन्हें अब समाज के कार्यों से जोड़े रखना चाहते थे परंतु कठोर परिश्रम युक्त उनके विशाल शोध कार्य को भी सम्पन्न करवाना आवश्यक था। बनारस पहुँचकर इन्होंने मुद्रा विधि को छोटा कार्य जानकर उसे पहले करने के विचार से उससे ही कार्य को प्रारम्भ किया। देखते ही देखते उस कार्य ने भी एक विराट रूप ले लिया। उनका यह मुद्रा कार्य विश्वस्तरीय कार्य था जिसमें उन्होंने जैन, हिन्दू, बौद्ध, योग एवं नाट्य परम्परा की सहस्राधिक हस्त मुद्राओं पर विशेष शोध किया। यद्यपि उन्होंने दिन-रात परिश्रम कर इस कार्य को 6-7 महीने में एक बार पूर्ण कर लिया, किन्तु उसके विभिन्न कार्य तो अन्त तक चलते रहे। तत्पश्चात उन्होंने अन्य कुछ विषयों पर और भी कार्य किया। उनकी कार्यनिष्ठा देख वहाँ के लोग हतप्रभ रह जाते थे। संघ-समाज के बीच स्वयं बड़े होने के कारण नहीं चाहते हुए भी सामाजिक दायित्व निभाने ही पड़ते थे।

सिर्फ बनारस में ही नहीं रायपुर के बाद जब भी वे अध्ययन हेतु कहीं गई तो उन्हें ही बड़े होकर जाना पड़ा। सभी गुरु बहिनों का विचरण शासन कार्यों हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने से इस समस्या का सामना भी उन्हें करना ही था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधु जीवन में बड़े होकर रहना अर्थात संघ-समाज-समुदाय की समस्त गतिविधियों पर ध्यान रखना, जो कि अध्ययन करने वालों के लिए संभव नहीं होता परंतु साधु जीवन यानी विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार और जो इन्हें पार कर आगे बढ़ जाता है वह जीवन जीने की कला का मास्टर बन जाता है। इस शोधकार्य ने सौम्याजी को विधि-विधान के साथ जीवन के क्षेत्र में भी मात्र मास्टर नहीं अपितु विशेषज्ञ बना दिया।

पूज्य बड़े म.सा. बंगाल के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। कोलकाता वालों की हार्दिक इच्छा सौम्याजी को बुलाने की थी। वैसे जौहरी संघ के पदाधिकारी श्री प्रेमचन्दजी मोघा एवं मंत्री मणिलालजी दुसाज शाजापुर से ही उनके चातुर्मास हेतु आग्रह कर रहे थे। अत: न चाहते हुए भी कार्य को अर्ध विराम दे उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। शाजापुर एवं बनारस प्रवास के दौरान किए गए शोध कार्य का कम्पोज करवाना बाकी था और एक-दो विषयों पर शोध भी। परंतु "जिसकी खाओ बाजरी उसकी बजाओ हाजरी" अत: एक और अवरोध शोध कार्य में आ चुका था। गुरुवर्य्या श्री ने सोचा था कि चातुर्मास के प्रारम्भिक दो महीने के पश्चात इन्हें प्रवचन आदि दायित्वों से निवृत्त कर देंगे परंतु समाज में रहकर यह सब संभव नहीं होता।

चातुर्मास के बाद गुरुवर्य्या श्री तो शेष क्षेत्रों की स्पर्शना हेतु निकल पड़ी किन्तु उन्हें शेष कार्य को पूर्णकर अन्तिम स्वरूप देने हेतु कोलकाता ही रखा। कोलकाता जैसी महानगरी एवं चिर-परिचित समुदाय के बीच तीव्र गति से अध्ययन असंभव था अत: उन्होंने मौन धारण कर लिया और सप्ताह में मात्र एक घंटा लोगों से धर्म चर्चा हेतु खुला रखा। फिर भी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण मुक्ति संभव नहीं थी। इसी बीच कोलकाता संघ के आग्रह से एवं अध्ययन हेतु अन्य सुविधाओं को देखते हुए पूज्याश्री ने इनका चातुर्मास कलकत्ता घोषित कर दिया। पूज्याश्री से अलग हुए सौम्याजी को करीब सात महीने हो चुके थे। चातुर्मास सम्मुख था और वे अपनी जिम्मेदारी पर प्रथम बार स्वतंत्र चातुर्मास करने वाली थी।

जेठ महीने की भीषण गर्मी में उन्होंने गुरुवर्य्याश्री के दर्शनार्थ जाने का मानस बनाया और ऊपर से मानसून सिना ताने खड़ा था। अध्ययन कार्य पूर्ण करने हेतु समयावधि की तलवार तो उनके ऊपर लटक ही रही थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने 35-40 कि.मी. प्रतिदिन की रफ्तार से दुर्गापुर की तरफ कदम बढ़ाए। कलकत्ता से दुर्गापुर और फिर पुन: कोलकाता की यात्रा में लगभग एक महीना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पढ़ाई नहींवत हुई। यद्यपि गुरुवर्य्याश्री के साथ चातुर्मासिक कार्यक्रमों की जिम्मेदारियाँ इन्हीं की होती है फिर भी अध्ययन आदि के कारण इनकी मानसिकता चातुर्मास संभालने की नहीं थी और किसी दृष्टि से उचित भी था। क्योंकि सबसे बड़े होने के कारण प्रत्येक कार्यभार का वहन इन्हीं को करना था अतः दो माह तक अध्ययन की गति पर पुनः ब्रेक लग गया। पूज्या श्री हमेशा फरमाती है कि–

जो जो देखा वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

सौम्याजी ने भी गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर संघ-समाज को समय ही नहीं अपितु भौतिकता में भटकते हुए मानव को धर्म की सही दिशा भी दिखाई। वर्तमान परिस्थितियों पर उनकी आम चर्चा से लोगों में धर्म को देखने का एक नया नजरिया विकसित हुआ। गुरुवर्य्याश्री एवं हम सभी को आन्तरिक आनंद की अनुभूति हो रही थी किन्तु सौम्याजी को वापस दुगुनी गति से अध्ययन में जुड़ना था। इधर कोलकाता संघ ने पूर्ण प्रयास किए फिर भी हिन्दी भाषा का कोई अच्छा कम्पोजर न मिलने से कम्पोजिंग कार्य बनारस में करवाया गया। दूरस्थ रहकर यह सब कार्य करवाना उनके लिए एक विषम समस्या थी। परंतु अब शायद वे इन सबके लिए सध गई थी, क्योंकि उनका यह कार्य ऐसी ही अनेक बाधाओं का सामना कर चुका था।

उधर सैंथिया चातुर्मास में पूज्याश्री का स्वास्थ्य अचानक दो-तीन बार बिगड़ गया। अतः वर्षावास पूर्णकर पूज्य गुरूवर्य्या श्री पुनः कोलकाता की ओर पधारी। सौम्याजी प्रसन्न थी क्योंकि गुरूवर्य्या श्री स्वयं उनके पास पधार रही थी। गुरुजनों की निश्रा प्राप्त करना हर विनीत शिष्य का मनेच्छित होता है। पूज्या श्री के आगमन से वे सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो गई थी। अध्ययन के अन्तिम पड़ाव में गुरूवर्य्या श्री का साथ उनके लिए सुवर्ण संयोग था क्योंकि प्रायः शोध कार्य के दौरान पूज्याश्री उनसे दूर रही थी।

शोध समय पूर्णाहुति पर था। परंतु इस बृहद कार्य को इतनी विषमताओं के भंवर में फँसकर पूर्णता तक पहुँचाना एक कठिन कार्य था। कार्य अपनी गति से चल रहा था और समय अपनी धुरी पर। सबमिशन डेट आने वाली थी किन्तु कम्पोजिंग एवं प्रूफ रीडिंग आदि का काफी कार्य शेष था।

पूज्याश्री के प्रति अनन्य समर्पित श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा को जब इस स्थिति के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने युनिवर्सिटी द्वारा समयावधि बढ़ाने हेतु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्जी पत्र देने का सुझाव दिया। उनके हार्दिक प्रयासों से 6 महीने का एक्सटेंशन प्राप्त हुआ। इधर पूज्या श्री तो शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की इच्छुक थी। परंतु भविष्य के गर्भ में क्या छुपा है यह कोई नहीं जानता। कुछ विशिष्ट कारणों के चलते कोलकाता भवानीपुर स्थित शंखेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा चातुर्मास के बाद होना निश्चित हुआ। अत: अब आठ-दस महीने तक बंगाल विचरण निश्चित था। सौम्याजी को अप्रतिम संयोग मिला था कार्य पूर्णता के लिए।

शासन देव उनकी कठिन से कठिन परीक्षा ले रहा था। शायद विषमताओं की अग्नि में तपकर वे सौम्याजी को खरा सोना बना रहे थे। कार्य अपनी पूर्णता की ओर पहुँचता इसी से पूर्व उनके द्वारा लिखित 23 खण्डों में से एक खण्ड की मूल कॉपी गुम हो गई। पुन: एक खण्ड का लेखन और समयावधि की अल्पता ने समस्याओं का चक्रव्यूह सा बना दिया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। जिनपूजा क्रिया विधानों का एक मुख्य अंग है अत: उसे गौण करना या छोड़ देना भी संभव नहीं था। चांस लेते हुए एक बार पुन: Extension हेतु निवेदन पत्र भेजा गया। मुनि जीवन की कठिनता एवं शोध कार्य की विशालता के मद्देनजर एक बार पुन: चार महीने की अवधि युनिवर्सिटी के द्वारा प्राप्त हुई।

शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा निमित्त सम्पूर्ण साध्वी मंडल का चातुर्मास बकुल बगान स्थित लीलीजी मणिलालजी सुखानी के नूतन बंगले में होना निश्चित हुआ।

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

सूरज से कह दो बेशक वह, अपने घर आराम करें।
चाँद सितारे जी भर सोएं, नहीं किसी का काम करें।
अगर अमावस से लड़ने की जिद कोई कर लेता है।
तो सौम्य गुणा सा जुगनु सारा, अंधकार हर लेता है।।

जिन पूजा एक विस्तृत विषय है। इसका पुनर्लेखन तो नियत अवधि में हो गया परंतु कम्पोजिंग आदि नहीं होने से शोध प्रबंध के तीसरे एवं चौथे भाग को तैयार करने के लिए समय की आवश्यकता थी। अब तीसरी बार लाडनूं विश्वविद्यालय से Extension मिलना असंभव प्रतीत हो रहा था।

श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा समस्त परिस्थितियों से अवगत थे। उन्होंने पूज्य गुरूवर्य्या श्री से निवेदन किया कि सौम्याजी को पूर्णत: निवृत्ति देकर कार्य शीघ्रातिशीघ्र करवाया जाए। विश्वविद्यालय के तत्सम्बन्धी नियमों के बारे में पता करके डेढ़ महीने की अन्तिम एवं विशिष्ट मौहलत दिलवाई। अब देरी होने का मतलब था Rejection of Work by University अत: त्वरा गति से कार्य चला।

सौम्याजी पर गुरुजनों की कृपा अनवरत रही है। पूज्य गुरूवर्य्या सज्जन श्रीजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

म.सा. के प्रति वह विशेष श्रद्धा प्रणत हैं। अपने हर शुभ कर्म का निमित्त एवं उपादान उन्हें ही मानती हैं। इसे साक्षात गुरु कृपा की अनुश्रुति ही कहना होगा कि उनके समस्त कार्य स्वत: ग्यारस के दिन सम्पन्न होते गए। सौम्याजी की आन्तरिक इच्छा थी कि पूज्याश्री को समर्पित उनकी कृति पूज्याश्री की पुण्यतिथि के दिन विश्वविद्यालय में Submit की जाए और निमित्त भी ऐसे ही बने कि Extension लेते-लेते संयोगवशात पुन: वही तिथि और महीना आ गया।

23 दिसम्बर 2012 मौन ग्यारस के दिन लाडनूं विश्वविद्यालय में 4 भागों में वर्गीकृत 23 खण्डीय Thesis जमा की गई। इतने विराट शोध कार्य को देखकर सभी हतप्रभ थे। 5556 पृष्ठों में गुम्फित यह शोध कार्य यदि शोध नियम के अनुसार तैयार किया होता तो 11000 पृष्ठों से अधिक हो जाते। यह सब गुरूवर्य्या श्री की ही असीम कृपा थी।

पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. की हार्दिक इच्छा थी कि सौम्याजी के इस ज्ञानयज्ञ का सम्मान किया जाए जिससे जिन शासन की प्रभावना हो और जैन संघ गौरवान्वित बने।

भवानीपुर-शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा का पावन सुयोग था। श्रुतज्ञान के बहुमान रूप 23 ग्रन्थों का भी जुलूस निकाला गया। सम्पूर्ण कोलकाता संघ द्वारा उनकी वधामणी की गई। यह एक अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय प्रसंग था।

बस मन में एक ही कसक रह गई कि मैं इस पूर्णाहुति का हिस्सा नहीं बन पाई।

आज सौम्याजी की दीर्घ शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि पूज्या प्रवर्त्तिनी म.सा. जहाँ भी आत्म साधना में लीन है वहाँ से उनकी अनवरत कृपा दृष्टि बरस रही है। शोध कार्य पूर्ण होने के बाद भी सौम्याजी को विराम कहाँ था? उनके शोध विषय की त्रैकालिक प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य शेष थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन कोलकाता से ही हो रहा था। अत: कलकत्ता संघ के प्रमुख श्री कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, श्राविका श्रेष्ठा प्रमिलाजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा आदि ने पूज्याश्री के सम्मुख सौम्याजी को रोकने का निवेदन किया। श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत, श्री मणिलालजी दूसाज आदि भी निवेदन कर चुके थे। यद्यपि अजीमगंज दादाबाड़ी प्रतिष्ठा के कारण रोकना असंभव था परंतु मुकीम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जी के अत्याग्रह के कारण पूज्याश्री ने उन्हें कुछ समय के लिए वहाँ रहने की आज्ञा प्रदान की।

गुरूवर्य्या श्री के साथ विहार करते हुए सौम्यगुणाजी को तीन Stop जाने के बाद वापस आना पड़ा। दादाबाड़ी के समीपस्थ शीतलनाथ भवन में रहकर उन्होंने अपना कार्य पूर्ण किया। इस तरह इनकी सम्पूर्ण शोध यात्रा में कलकत्ता एक अविस्मरणीय स्थान बनकर रहा।

क्षणै: क्षणै: बढ़ रहे उनके कदम अब मंजिल पर पहुँच चुके हैं। आज जो सफलता की बहुमंजिला इमारत इस पुस्तक श्रृंखला के रूप में देख रहे हैं वह मजबूत नींव इन्होंने अपने उत्साह, मेहनत और लगन के आधार पर रखी है। सौम्यगुणाजी का यह विशद् कार्य युग-युगों तक एक कीर्तिस्तम्भ के रूप में स्मरणीय रहेगा। श्रुत की अमूल्य निधि में विधि-विधान के रहस्यों को उजागर करते हुए उन्होंने जो कार्य किया है वह आने वाली भावी पीढ़ी के लिए आदर्श रूप रहेगा। लोक परिचय एवं लोक प्रसिद्धि से दूर रहने के कारण ही आज वे इस बृहद् कार्य को सम्पन्न कर पाई हैं। मैं परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि वे सदा इसी तरह श्रुत संवर्धन के कल्याण पथ पर गतिशील रहे। अंतत: उनके अडिग मनोबल की अनुमोदना करते हुए यही कहूँगी–

प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे,
कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।
आंदोलन करने वाले तो बहुत मिलेंगे,
दिशा बदलने वाला कोई निराला होता है।
तारों की तरह टिम-टिमाने वाले अनेक होते हैं,
पर सूरज बन रोशन करने वाला कोई एक ही होता है।
समय गंवाने वालों से यह दुनिया भरी है,
पर इतिहास बनाने वाला कोई सौम्य सा ही होता है।
प्रशंसा पाने वाले जग में अनेक मिलेंगे,
प्रिय बने सभी का ऐसा कोई सज्जन ही होता है ।।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हार्दिक बधाई

किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है–

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आवत फल होय।।

हर कार्य में सफलता समय आने पर ही प्राप्त होती है। एक किसान बीज बोकर साल भर तक मेहनत करता है तब जाकर उसे फसल प्राप्त होती है। चार साल तक College में मेहनत करने के बाद विद्यार्थी Doctor, Engineer या MBA होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी आज सफलता के जिस शिखर पर पहुँची है उसके पीछे उनकी वर्षों की मेहनत एवं धैर्य नींव रूप में रहे हुए हैं। लगभग 30 वर्ष पूर्व सौम्याजी का आगमन हमारे मण्डल में एक छोटी सी गुड़िया के रूप में हुआ था। व्यवहार में लघुता, विचारों में सरलता एवं बुद्धि की श्रेष्ठता उनके प्रत्येक कार्य में तभी से परिलक्षित होती थी। ग्यारह वर्ष की निशा जब पहली बार पूज्याश्री के पास वैराग्यवासित अवस्था में आई तब मात्र चार माह की अवधि में प्रतिक्रमण, प्रकरण, भाष्य,कर्मग्रन्थ, प्रात:कालीन पाठ आदि कंठस्थ कर लिए थे। उनकी तीव्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण पूज्य छोटे म.सा. (पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.) उन्हें अधिक से अधिक चीजें सिखाने की इच्छा रखते थे।

निशा का बाल मन जब अध्ययन से उक्ता जाता और बाल सुलभ चेष्टाओं के लिए मन उत्कंठित होने लगता, तो कई बार वह घंटों उपाश्रय की छत पर तो कभी सीढ़ियों में जाकर छुप जाती ताकि उसे अध्ययन न करना पड़े। परंतु यह उसकी बाल क्रीड़ाएँ थी। 15-20 गाथाएँ याद करना उसके लिए एक सहज बात थी। उनके अध्ययन की लगन एवं सीखने की कला आदि के अनुकरण की प्रेरणा आज भी छोटे म.सा. आने वाली नई मंडली को देते हैं। सूत्रागम अध्ययन, ज्ञानार्जन, लेखन, शोध आदि के कार्य में उन्होंने जो श्रृंखला प्रारम्भ की है आज सज्जनमंडल में उसमें कई कड़ियाँ जुड़ गई हैं परन्तु मुख्य कड़ी तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुख्य ही होती है। ये सभी के लिए प्रेरणा बन रही हैं किन्तु इनके भीतर जो प्रेरणा आई वह कहीं न कहीं पूज्य गुरुवर्य्या श्री की असीम कृपा है।

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत कर्म के लिए चाहिए
महत प्रेरणा बल भी भीतर

यह महत प्रेरणा गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। विनय, सरलता, शालीनता, ऋजुता आदि गुण गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सौम्याजी का मन शुरू से सीधा एवं सरल रहा है। सांसारिक कपट-माया या व्यवहारिक औपचारिकता निभाना इनके स्वभाव में नहीं है। पूज्य प्रवर्तिनीजी म.सा. को कई बार ये सहज में कहती **'महाराज श्री!' मैं तो आपकी कोई सेवा नहीं करती, न ही मुझमें विनय है, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे गुरु कृपा कैसे प्राप्त होगी?' तब पूज्याश्री फरमाती– 'सौम्या! तेरे ऊपर तो मेरी अनायास कृपा है, तूं चिंता क्यों करती है? तूं तो महान साध्वी बनेगी।'** आज पूज्याश्री की ही अन्तस शक्ति एवं आशीर्वाद का प्रस्फोटन है कि लोकैषणा, लोक प्रशंसा एवं लोक प्रसिद्धि के मोह से दूर वे श्रुत सेवा में सर्वात्मना समर्पित हैं। जितनी समर्पित वे पूज्या श्री के प्रति थी उतनी ही विनम्र अन्य गुरुजनों के प्रति भी। गुरु भगिनी मंडल के कार्यों के लिए भी वे सदा तत्पर रहती हैं। चाहे बड़ों का कार्य हो, चाहे छोटों का उन्होंने कभी किसी को टालने की कोशिश नहीं की। चाहे प्रियदर्शना श्रीजी हो, चाहे दिव्यदर्शना श्रीजी, चाहे शुभदर्शनाश्रीजी हो, चाहे शीलगुणा जी आज तक सभी के साथ इन्होंने लघु बनकर ही व्यवहार किया है। कनकप्रभाजी, संयमप्रज्ञाजी आदि लघु भगिनी मंडल के साथ भी इनका व्यवहार सदैव सम्मान, माधुर्य एवं अपनेपन से युक्त रहा है। ये जिनके भी साथ चातुर्मास करने गई हैं उन्हें गुरुवत सम्मान दिया तथा उनकी विशिष्ट आन्तरिक मंगल कामनाओं को प्राप्त किया है। पूज्या विनीता श्रीजी म.सा., पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा., पूज्या हेमप्रभा श्रीजी म.सा., पूज्या सुलोचना श्रीजी म.सा., पूज्या विद्युतप्रभाश्रीजी म.सा. आदि की इन पर विशेष कृपा रही है। पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म.सा., आचार्य श्री कीर्तियशसूरिजी आदि ने इन्हें अपना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्नेहाशीष एवं मार्गदर्शन दिया है। आचार्य श्री राजयशसूरिजी म.सा., पूज्य भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. एवं पूज्य वाचंयमा श्रीजी (बहन) म.सा. इनका Ph.D. एवं D.Litt. का विषय विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें 'विधिप्रभा' नाम से ही बुलाते हैं।

पूज्या शशिप्रभाजी म.सा. ने अध्ययन काल के अतिरिक्त इन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं किया और आज भी हम सभी गुरु बहनों की अपेक्षा गुरु निश्रा प्राप्ति का लाभ इन्हें ही सर्वाधिक मिलता है। पूज्याश्री के चातुर्मास में अपने विविध प्रयासों के द्वारा चार चाँद लगाकर ये उन्हें और भी अधिक जानदार बना देती हैं।

तप-त्याग के क्षेत्र में तो बचपन से ही इनकी विशेष रुचि थी। नवपद की ओली का प्रारम्भ इन्होंने गृहस्थ अवस्था में ही कर दिया था। इनकी छोटी उम्र को देखकर छोटे म.सा. ने कहा– देखो! तुम्हें तपस्या के साथ उतनी ही पढ़ाई करनी होगी तब तो ओलीजी करना अन्यथा नहीं। ये बोली– मैं रोज पन्द्रह नहीं बीस गाथा करूंगी आप मुझे ओलीजी करने दीजिए और उस समय ओलीजी करके सम्पूर्ण प्रातःकालीन पाठ कंठाग्र किये। बीसस्थानक, वर्धमान, नवपद, मासक्षमण, श्रेणी तप, चत्तारि अट्ठ दस दोय, पैंतालीस आगम, ग्यारह गणधर, चौदह पूर्व, अट्ठाईस लब्धि, धर्मचक्र, पखवासा आदि कई छोटे-बड़े तप करते हुए इन्होंने अध्ययन एवं तपस्या दोनों में ही अपने आपको सदा अग्रसर रखा।

आज उनके वर्षों की मेहनत की फलश्रुति हुई है। जिस शोध कार्य के लिए वे गत 18 वर्षों से जुटी हुई थी उस संकल्पना को आज एक मूर्त्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। अब तक सौम्याजी ने जिस धैर्य, लगन, एकाग्रता, श्रुत समर्पण एवं दृढ़निष्ठा के साथ कार्य किया है वे उनमें सदा वृद्धिंगत रहे। पूज्य गुरुवर्य्या श्री के नक्शे कदम पर आगे बढ़ते हुए वे उनके कार्यों को और नया आयाम दें तथा श्रुत के क्षेत्र में एक नया अवदान प्रस्तुत करें। इन्हीं शुभ भावों के साथ–

गुरु भगिनी मण्डल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुभूति की प्रभात

विधि–विधान एक अथाह एवं असीम महासागर है। धर्म-कर्म की विविध नदियाँ एवं उपनदियाँ इसमें समाहित हो जाती है। किसी अपेक्षा से भिन्न रूप प्रतिभासित होने वाली समस्त धाराएँ यहाँ एक रूप हो जाती है।

विधि-विधान का अभिप्रेत पूजा, प्रतिक्रमण, प्रतिष्ठा आदि आयोजन मात्र नहीं है। यह जीवन जीने की कला अर्थात Art of Living है। केवल वैयक्तिक जगत पर ही नहीं अपितु सामाजिक, आध्यात्मिक, शारीरिक आदि विविध स्तरों पर इसका अप्रतिम प्रभाव परिलक्षित होता है।

आगम वाणी को आचरण में रूपान्तरित करने के लिए यह एक विशिष्ट प्रयोग है। विधि-विधान का एक अर्थ जिनवाणी की क्रियान्विति ही है। इसी के माध्यम से मानव अपने सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जिस तरह किसी भी विषय का गूढ़ अध्ययन करना हो तो उसे आयु, कक्षा, समय सीमा आदि की अपेक्षा से वर्गीकृत किया जाता है उसी तरह आगम सम्मत विधि-विधानों को भी अनेक अपेक्षाओं से वर्गीकृत किया जा सकता है।

जैन परम्परा में कुछ विधान श्रावक वर्ग के लिए है तो कुछ मात्र श्रमण वर्ग के लिए। कई ऐसे विधान हैं जिनमें दोनों का सहयोग उपेक्षित है तो कुछ दोनों के लिए अवश्य करणीय। यद्यपि समस्त क्रिया विधानों का उद्देश्य व्यक्ति को स्व स्वरूप के निकट ले जाना है। उसे निज में स्थापित कर जिनत्व की प्राप्ति करवाना है।

मुझे विधि ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए तत्सम्बन्धी एक बृहद् स्वरूप उपस्थित हुआ। उसी वजह से लघु रूप में प्रारंभ हुए शोध कार्य ने इतना विस्तृत रूप धारण कर लिया। प्रस्तुत शोध सारांशिका में उसके अपने नाम के अनुसार आलोडित किए गए विषयों का संक्षिप्त एवं सारभूत वर्णन किया गया है। इसके माध्यम से जिज्ञासु वर्ग विधि-विधान के बृहद स्वरूप से परिचित तो होगा ही, साथ ही उन विषयों को जानने हेतु रुचि भी जागृत होगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्तमान में विधि-विधान का मूल स्वरूप विस्मृत होता जा रहा है। इसे बाह्य क्रिया, अनुष्ठान-आडंबर में ही सीमित समझा जाता है। इसी भ्रमित मानसिकता का निवारण करने एवं विधियों के यथोचित स्वरूप को समझाने का यह एक लघु प्रयास है।

'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' एक सामान्य विषय प्रतीत होता है परंतु इसके अर्थ गांभीर्य पर यदि विचार करें तो इसमें जीवन की सफलता एवं समरसता का मधुर रस समाया हुआ है।

यदि हम 'जैन' शब्द की विवक्षा करें तो जैन कुल में जन्म लेने वाला जैन है यह आम मान्यता है परंतु वस्तुत: जिनवाणी के आधार पर चिंतन करें तो हर वह व्यक्ति जो जिनेश्वर परमात्मा की वाणी को जानता और मानता है एवं तदनुसार ही अपना आचरण करता है वह जैन है। प्रभु महावीर ने कहा है व्यक्ति जन्म से नहीं अपितु अपने कर्म से जैन बनता है। श्रावकाचार-श्रमणाचार आदि का पालन करने वाला ही सच्चा जैन है।

विधि-विधान हमारे दैनिक प्रयोग का शब्द है। सामान्यतया पूजन, महापूजन, प्रतिष्ठा आदि अनुष्ठानों में सम्पन्न की जाने वाली क्रियाओं को विधि-विधान समझा जाता है। यदि थोड़ा गहराई से अन्वेषण करें तो विधि-विधान, यह शास्त्रानुसार जीवन जीने की कला है। यह शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रायोगिक स्वरूप है। जब Laboratory में कोई भी प्रयोग करना हो तो सर्वप्रथम उसके Procedure अर्थात क्रिया करने की विधि एवं उसके नियमोपनियम की जानकारी होना आवश्यक है। उसी विधि या Procedure के आधार पर वह क्रिया प्रायोगिक रूप में सम्पन्न की जाती है अत: क्रिया करने का प्रायोगिक या Practical तरीका विधि है तथा शास्त्रों में निर्दिष्ट की गई वह विधि, विधान कहलाता है। विधि, क्रिया का आचरित या Practical रूप है और विधान, निर्दिष्ट विधि का Theoritical part है। इस स्पष्टीकरण के आधार पर हम शास्त्रोक्त रूप से जो भी आचरण करते हैं वह सभी विधि-विधान हैं। इसी अर्थानुसार इस शोध कार्य के अन्तर्गत श्रावकाचार, श्रमणाचार, तप, प्रतिक्रमण, पूजा आदि दैनिक क्रियाएँ, प्रतिष्ठा आदि आत्मशोधक अनुष्ठान एवं मुद्राएँ आदि मुख्य विषयों का समावेश करते हुए उनका सम्यक स्वरूप प्रस्तुत किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहने को जैन धर्म एक परम्परा है परन्तु जैसे वृक्ष की अनेक शाखा-उपशाखाएँ होती है वैसे ही जैन परम्परा में श्वेताम्बर, दिगम्बर तदनन्तर उनमें भी अनेक भेद रेखाएँ हैं।

इस शोध कार्य में मुख्य रूप से जैन परम्परावर्ती श्वेताम्बर, दिगम्बर, तेरापंथी, स्थानकवासी, पायच्छंदगच्छ, अचलगच्छ आदि की सामाचारियों में प्रचलित विधियों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इसी के साथ जहाँ-जहाँ विधि-विधानों में भेद परिलक्षित होता है उनकी चर्चा भी की है।

यदि अपने चिंतन को थोड़ी विराटता दें तो ज्ञात होता है कि जैन धर्म यह जन धर्म है। यदि वर्तमान भारतीय परम्परा की बात करें तो अनेक धर्मों का जीवंत स्वरूप यहाँ पल्लवित हो रहा है। प्रचलित धर्म सम्प्रदायों में भी हिन्दू एवं बौद्ध परम्पराएँ जैन धर्म के अत्यन्त निकटवर्ती प्रतीत होती हैं। यह तीनों भारत की प्राच्य परम्पराएँ मानी जाती हैं। कई नैतिक मूल्यों एवं आचार संहिताओं को लेकर समरूपता है तो कई सैद्धान्तिक नियमों में मतभेद भी। कई क्रियाओं में मात्र नाम की समरूपता है तो कुछ क्रियाओं में किंच साम्य और किंच वैषम्य है।

सुस्पष्ट है कि जैन, हिन्दू एवं बौद्ध यह तीनों परम्पराएँ एक-दूसरे से प्रभावित होने के साथ-साथ भारतीय दर्शन के तीन भिन्न धाराओं का प्रतीक भी है। इनके द्वारा भारतीय संस्कृति का समुचित स्वरूप समुपस्थित हो जाता है इसलिए शोध के अन्तर्गत इन तीन परम्पराओं की विशेष तुलना की है।

प्रत्येक धर्म एवं संस्कृति में देश-काल परिस्थिति के अनुसार कई नवीन मूल्यों का समावेश एवं प्राच्य विधानों में परिवर्तन होता है। विविध परिप्रेक्ष्यों में उन मूल्यों का भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है। जैसे कि किन स्थितियों में कौनसे सिद्धान्त की क्या भूमिका है? कौन सा विधान हमारी पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय संरचना को किस तरह प्रभावित करता है? वर्तमान शिक्षा पद्धति में हमारे विधि-विधान किस तरह सहयोगी बन सकते हैं? प्रबंधन (Management) के क्षेत्र में इन विधियों का क्या मूल्य हो सकता है?

वर्तमान संदर्भों में इन सभी की समीक्षा होना आवश्यक है ताकि आधुनिक जीवन शैली में उन सभी विधि-विधानों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जा सके।

इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन किया हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्विवादत: विधि-विधान, यह धर्म एवं विज्ञान का अनुपम संयोग है। इसके द्वारा जहाँ आध्यात्मिक उच्चता एवं रमणता प्राप्त होती है वहीं इनका आचरण शारीरिक स्वस्थता, सुंदरता एवं सुगढ़ता के साथ आपसी प्रेम भाव, मित्रता आदि की भी स्थापना करता है। मुद्रा आदि का प्रयोग सुप्त आंतरिक विशिष्ट शक्तियों को जागृत कर व्यक्ति को सफलता के चरम पर पहुँचाता है।

इस शोध के माध्यम से युवा वर्ग में धर्म के प्रति स्थापित होती मिथ्या धारणाओं का निवारण होगा तथा धर्म का विघटित एवं विश्रृंखलित होता स्वरूप सही दिशा को प्राप्त करेगा। सुज्ञ वर्ग इसका उपयोग कर अपने अंतर पटल उद्घाटित करें और धर्म के मर्म को जानते हुए लौकिक एवं लोकोत्तर समृद्धि के राजमार्ग पर अग्रसर हो सकें, इसी के साथ-

जीवन में हमारे पारदर्शिता आ सके
कथनी और करनी में समरूपता ला सकें
शास्त्र निहित नैतिक मूल्यों को जीवन मंत्र बना सकें
धर्म सूत्रों का समन्वय विज्ञान के साथ करवा सकें
इन्हीं मंगल आकांक्षाओं सह
एक ऊँची उड़ान...

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वन्दना की झंकार

जैन विधि-विधानों से सम्बन्धित एक बृहद्स्तरीय अन्वेषण आज पूर्णाहुति की प्रतीक्षित अरूणिम वेला पर है। जिनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष संबल इस विराट् विषय के प्रतिपादन में आधार स्तंभ बना उन सभी उपकारी जनों की अभिवन्दना-अनुमोदना करने के लिए मन तरंगित हो रहा है। यद्यपि उन्हें पूर्णत: अभिव्यक्ति देना असंभव है फिर भी सामर्थ्य जुटाती हुई करबद्ध होकर सर्वप्रथम, जिनके दिव्य ज्ञान के आलोक ने भव्य जीवों के हृदयान्धकार को दूर किया, जिनकी पैंतीस गुणयुक्त वाणी ने जीव जगत का उद्धार किया, जिनके रोम-रोम से निर्झरित करूणा भाव ने समस्त जीवराशि को अभयदान दिया तथा मोक्ष मार्ग पर आरोहण करने हेतु सम्यक चारित्र का महादान दिया, ऐसे भवो भव उपकारी सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा के चरण सरोजों में अनन्त-अनन्त वंदना करती हूँ।

जिनके स्मरण मात्र से दु:साध्य कार्य सरल हो जाता है ऐसे साधना सहायक, सिद्धि प्रदायक श्री सिद्धचक्र को आत्मस्थ वंदन।

चिन्तामणि रत्न की भाँति हर चिन्तित स्वप्न को साकार करने वाले, कामधेनु की भाँति हर अभिलाषा को पूर्ण करने वाले एवं जिनकी वरद छाँह में जिनशासन देदीप्यमान हो रहा है ऐसे क्रान्ति और शान्ति के प्रतीक चारों दादा गुरूदेव तथा सकल श्रुतधर आचार्यों के चरणारविन्द में भावभीनी वन्दना।

प्रबल पुण्य के स्वामी, सरलहृदयी, शासन उद्धारक, खरतरगच्छाचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा. के पवित्र चरणों में श्रद्धा भरी वंदना। जिन्होंने सदा अपनी कृपावृष्टि एवं प्रेरणादृष्टि से इस शोध यात्रा को लक्ष्य तक पहुँचाने हेतु प्रोत्साहित किया।

जिनके प्रज्ञाशील व्यक्तित्व एवं सृजनशील कर्तृत्व ने जैन समाज में अभिनव चेतना का पल्लवन किया, जिनकी अन्तस् भावना ने मेरी अध्ययन रुचि को जीवन्त रखा ऐसे उपाध्याय भगवन्त पूज्य गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. के चरण नलिनों में कोटिश: वन्दन।

मैं हृदयावनत हूँ प्रभुत्वशील एवं स्नेहिल व्यक्तित्व के धनी, गुण गरिमा से मंडित प.पू. आचार्य पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा. की, जिन्होंने कोबा लाइब्रेरी के माध्यम से दुष्प्राप्य ग्रन्थों को उपलब्ध करवाया तथा सहृदयता एवं उदारता के साथ मेरी शंकाओं का समाधान कर प्रगति पाथेय प्रदान किया। उन्हीं के निश्रावर्ती मनोज्ञ स्वभावी, गणिवर्य्य श्री प्रशांतसागरजी म.सा. की भी मैं ऋणी हूँ जिन्होंने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निस्वार्थ भाव से सदा सहयोग करते हुए मुझे उत्साहित रखा।

मैं कृतज्ञ हूँ सरस्वती साधना पथ प्रदीप, प.पू. ज्येष्ठ भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने इस शोध कार्य की मूल्यवत्ता का आकलन करते हुए मेरी अंतश्चेतना को जागृत रखा।

मैं सदैव उपकृत रहूंगी प्रवचन प्रभावक, शास्त्र वेत्ता, सन्मार्ग प्रणेता प.पू. आचार्य श्री कीर्तियश सूरीश्वरजी म.सा एवं आगम मर्मज्ञ, संयमोत्कर्षी प.पू. रत्नयश विजयजी म.सा के प्रति, जिन्होंने नवीन ग्रन्थों की जानकारी देने के साथ-साथ शोध कार्य का प्रणयन करते हुए इसे विबुध जन ग्राह्य बनाकर पूर्णता प्रदान की।

मैं आस्था प्रणत हूँ जगवल्लभ प.पू. आचार्य श्री राजयश सूरीश्वरजी म.सा एवं वात्सल्य मूर्ति प.पू. बहन महाराज वाचंयमा श्रीजी म.सा के प्रति, जिन्होंने समय-समय पर अपने अनुभव ज्ञान द्वारा मेरी दुविधाओं का निवारण कर इस कार्य को भव्यता प्रदान की।

मैं नतमस्तक हूँ समन्वय साधक, भक्त सम्मोहक, साहित्य उद्धारक, अचल गच्छाधिपति प.पू. आचार्य श्री गुणरत्नसागर सूरीश्वरजी म.सा. के चरणों में, जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से मेरी जिज्ञासाओं का समाधान करके मेरे कार्य को आगे बढ़ाया।

मैं आस्था प्रणत हूँ लाडनूं विश्व भारती के प्रेरणा पुरुष, अनेक ग्रन्थों के सृजनहार, कुशल अनुशास्ता, साहित्य मनीषी आचार्य श्री तुलसी एवं आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के चरणों में, जिनके सृजनात्मक कार्यों ने इस साफल्य में आधार भूमि प्रदान की।

इसी श्रृंखला में श्रद्धानत हूँ त्रिस्तुतिक गच्छाधिपति, पुण्यपुंज प.पू. आचार्य श्री जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने हर संभव स्व सामाचारी विषयक तथ्यों से अवगत करवाते हुए इस शोध को सुलभ बनाया।

मैं श्रद्धावनत हूँ विश्व प्रसिद्ध, प्रवचन प्रभावक, क्रान्तिकारी सन्त प्रवर श्री तरुणसागरजी म.सा के प्रति, जिन्होंने यथोचित सुझाव देकर रहस्य अन्वेषण में सहायता प्रदान की।

मैं आभारी हूँ मृदुल स्वभावी प.पू. पीयूषसागरजी म.सा. एवं गूढ़ स्वाध्यायी प. पू. सम्यक्रत्नसागरजी म.सा. की जिन्होंने सदैव मेरा उत्साह वर्धन किया।

उपकार स्मरण की इस कड़ी में अन्तर्हृदय से उपकृत हूँ महत्तरा पद विभूषिता पू. विनीता श्रीजी म.सा., प्रवर्त्तिनी प्रवरा पू. चन्द्रप्रभा श्रीजी म.सा., सरलमना पू. चन्द्रकला श्रीजी म.सा., मरूधर ज्योति पू. मणिप्रभा श्रीजी म.सा., स्नेह गंगोत्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पू. हेमप्रभा श्रीजी म.सा. एवं अन्य सभी समादृत साध्वी मंडल के प्रति, जिनके अन्तर मन की मंगल कामनाओं ने मेरे मार्ग को निष्कंटक बनाया तथा आत्मीयता प्रदान कर सम्यक् ज्ञान के अर्जन को प्रवर्द्धमान रखा।

जिनकी मृदुता, दृढ़ता, गंभीरता, क्रियानिष्ठता एवं अनुभव प्रौढ़ता ने सुज्ञजनों को सन्मार्ग प्रदान किया, जिनका निश्छल व्यवहार **'जहा अंतो तहा बहिं'** का जीवन्त उदाहरण था, जो पंचम आरे में चौथे आरे की साक्षात प्रतिमूर्ति थी, ऐसी श्रद्धालोक की देवता, वात्सल्य वारिधि, प्रवर्त्तिनी महोदया, गुरूवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा के पावन पद्मों में सर्वात्मना वंदन करती हूँ।

मैं उऋण भावों से कृतज्ञ हूँ जप एवं ध्यान की निर्मल ज्योति से प्रकाशमान तथा चारित्र एवं तप की साधना से दीप्तिमान सज्जनमणि प.पू. गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा के प्रति, जिन्होंने मुझ जैसे अनघड़ पत्थर को साकार रूप प्रदान किया।

मैं अन्तर्हृदय से आभारी हूँ मेरे शोध कार्य की प्रारंभकर्त्ता, अनन्य गुरू समर्पिता, ज्येष्ठ गुरू भगिनी पू. प्रियदर्शना श्रीजी म.सा. तथा सेवाभावी पू. दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., स्वनिमग्ना पू. तत्त्वदर्शना श्रीजी म.सा., दृढ़ मनोबली पू. सम्यग्दर्शना श्रीजी म.सा., स्मित वदना पू. शुभदर्शना श्रीजी म.सा., मितभाषी पू. मुदितप्रज्ञा श्रीजी म.सा., समन्वय स्वभावी पू. शीलगुणाजी, मृदु भाषिणी साध्वी कनकप्रभाजी, कोमल हृदयी श्रुतदर्शनाजी, प्रसन्न स्वभावी साध्वी संयमप्रज्ञाजी आदि समस्त गुरु भगिनि मण्डल की; जिन्होंने सामाजिक दायित्त्वों से निवृत्त रखते हुए सद्भावों की सुगन्ध से मेरे मन को तरोताजा रखा।

मेरी शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर पहुँचाने में अनन्य सहयोगिनी, सहज स्वभावी **स्थितप्रज्ञा जी** एवं विनम्रशीला **संवेगप्रज्ञा जी** तथा इसी के साथ अल्प भाषिणी **सुश्री मोनिका बैराठी** एवं शान्त स्वभावी **सुश्री सीमा छाजेड़** को साधुवाद देती हुई उनके उज्ज्वल भविष्य की तहेद्दिल से कामना करती हूँ।

मैं अन्तस्थ भावों से उपकृत हूँ श्रुत समाज के गौरव पुरुष, ज्ञान पिपासुओं के लिए सद्ज्ञान प्रपा के समान, आदरणीय डॉ. सागरमलजी के प्रति, जिनका सफल निर्देशन इस शोध कार्य का मूलाधार है।

इस बृहद् शोध के कार्य काल में हर तरह की सेवाओं के लिए तत्पर, उदारहृदयी श्रीमती मंजुजी सुनीलजी बोथरा (रायपुर) के भक्तिभाव की अनुशंसा करती हूँ।

जिन्होंने दूरस्थ रहकर भी इस ज्ञान यज्ञ को निर्बाध रूप से प्रवाहमान बनाए रखने में यथोचित सेवाएँ प्रदान की, ऐसी श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख (जगदलपुर) भी साधुवाद के पात्र हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेवा स्मरण की इस श्रृंखला में मैं ऋणी हूँ कोलकाता निवासी, अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी शकुंतलाजी मुणोत की, जिन्होंने ढ़ाई साल के कोलकाता प्रवास में भ्रातातुल्य स्नेह एवं सहयोग प्रदान करते हुए अपनी सेवाएँ अनवरत प्रदान की। श्री खेमचंदजी किरणजी बांठिया की अविस्मरणीय सेवाएँ भी इस शोध यात्रा की पूर्णता में अनन्य सहयोगी बनी।

सहयोग की इस श्रृंखला में मैं आभारी हूँ, टाटा निवासी श्री जिनेन्द्रजी नीलमजी बैद की, जिनके अथक प्रयासों से मुद्राओं का रेखांकन संभव हो पाया।

अनुमोदना की इस कड़ी में कोलकाता निवासी श्री कान्तिलालजी मुकीम, मणिलालजी दूसाज, कमलचंदजी धांधिया, विमलचन्दजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा, अजयजी बोथरा, महेन्द्रजी नाहटा, पन्नालाल दूगड़, निर्मलजी कोचर आदि की सेवाओं को विस्मृत नहीं कर सकती हूँ।

बनारस निवासी श्री अश्विनभाई शाह, ललितजी भंसाली, कीर्ति भाई ध्रुव दिव्येशजी शाह, राहुलजी गांधी आदि भी साधुवाद के अधिकारी हैं जिन्होंने अपनी आत्मियता एवं नि:स्वार्थ सेवाएँ बनारस प्रवास के बाद भी बनाए रखी।

इसी कड़ी में बनारस सेन्ट्रल लाइब्रेरी के मुख्य लाइब्रेरियन श्री संजयजी सर्राफ एवं श्री विवेकानन्दजी जैन की भी मैं अत्यंत आभारी हूँ कि उन्होंने पुस्तकें उपलब्ध करवाने में अपना अनन्य सहयोग दिया।

इसी श्रृंखला में श्री कोलकाता संघ, मुंबई संघ, जयपुर संघ, मालेगाँव संघ, अहमदाबाद संघ, बनारस संघ, शाजापुर संघ, टाटा संघ के पदाधिकारियों एवं धर्म समर्पित सदस्यों ने स्थानीय सेवाएँ प्रदान कर इस शोध यात्रा को सरल एवं सुगम बनाया अत: उन सभी को साधुवाद देती हूँ।

इस शोध कार्य को प्रामाणिक बनाने में कोबा लाइब्रेरी (अहमदाबाद) एवं वहाँ के सदस्यगण मनोज भाई, केतन भाई, अरूणजी आदि, एल. डी. इन्स्टीट्यूट (अहमदाबाद), प्राच्य विद्यापीठ (शाजापुर), पार्श्वनाथ शोध संस्थान (वाराणसी) एवं लाइब्रेरियन ओमप्रकाश सिंह तथा संस्थान अधिकारियों ने यथेच्छित पुस्तकों के आदान-प्रदान में जो सहयोग दिया, उसके लिए मैं उनकी सदैव आभारी रहूंगी।

प्रस्तुत कार्य को जन समुदाय के लिए उपयोगी बनाने में जिनकी पुण्यराशि संबल बनी है उन समस्त श्रुतप्रेमी लाभार्थी परिवार की उन्मुक्त कण्ठ से अनुमोदना करती हूँ।

इन शोध कृतियों को कम्प्यूटराईज्ड, संशोधन एवं सेटिंग करने में अनन्य सहयोगी विमलचन्द्र मिश्रा (वाराणसी) का अत्यन्त आभार मानती हूँ। आपके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विनम्र, सुशील एवं सज्जन स्वभाव ने मुझे अनेक बार के प्रूफ संशोधन की चिन्ताओं से सदैव मुक्त रखा। स्वयं के कारोबार को संभालते हुए आपने इस बृहद् कार्य को जिस निष्ठा के साथ पूर्ण किया है यह सामान्य व्यक्ति के लिए नामुमकिन है।

इसी श्रृंखला में शांत स्वभावी श्री रंजनजी, रोहितजी कोठारी (कोलकाता) भी धन्यवाद के पात्र हैं। सम्पूर्ण पुस्तकों के प्रकाशन एवं कॅवर डिजाइनिंग में अप्रमत्त होकर अंतरमन से सहयोग दिया। शोध प्रबंध की सम्पूर्ण कॉपी बनाने का लाभ लेकर आप श्रुत संवर्धन में भी परम हेतुभूत बने हैं।

23 खण्डों को आकर्षक एवं चित्तरंजक कॅवर से नयनरम्य बनाने के लिए कॅवर डिजाईनर शंभु भट्टाचार्य की भी मैं तहेदिल से आभारी हूँ।

इसे संयोग कहूँ या विधि की विचित्रता? मेरी प्रथम शोध यात्रा की संकल्पना लगभग 17 वर्ष पूर्व जहाँ से प्रारम्भ हुई वहीं पर उसकी चरम पूर्णाहुति भी हो रही है। श्री जिनरंगसूरि पौशाल (कोलकाता) अध्ययन योग्य सर्वश्रेष्ठ स्थान है। यहाँ के शान्त-प्रशान्त परमाणु मनोयोग को अध्ययन के प्रति जोड़ने में अत्यन्त सहायक बने हैं। इसी के साथ मैं साधुवाद देती हूँ श्रीजिनरंगसूरि पौशाल, कोलकाता के ट्रस्टी श्री कमलचंदजी धांधिया, कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, मणिलालजी दूसाज आदि समस्त भूतपूर्व एवं वर्तमान ट्रस्टियों को, जिन्होंने अध्ययन एवं स्थान की महत्त्वपूर्ण सुविधा के साथ कम्पोजिंग में भी पूर्ण रूप से अर्थ सहयोग दिया। इन्हीं की पितृवत छत्र-छाया में यह शोध कार्य शिखर तक पहुँच पाया है। इस अवधि के दौरान ग्रन्थ आदि की आवश्यक सुविधाओं हेतु शाजापुर, बनारस आदि शोध संस्थानों में प्रवास रहा। उन दिनों से ही जौहरी संघ के पदाधिकारीगण कान्तिलालजी मुकीम, मणिलालजी दूसाज, विमलचन्दजी महमवाल आदि बार-बार निवेदन करते रहे कि आप पूर्वी क्षेत्र की तरफ एक बार फिर से पधारिए। हम आपके अध्ययन की पूर्ण व्यवस्था करेंगे। उन्हीं की सद्भावनाओं के फलस्वरूप शायद इस कार्य का अंतिम प्रणयन यहाँ हो रहा है। इसी के साथ शोध प्रतियों के मुद्रण कार्य में भी श्री जिनरंगसूरि पौशाल ट्रस्टियों का हार्दिक सहयोग रहा है। अन्ततः यही कहूँगी–

प्रभु वीर वाणी उद्यान की, सौरभ से महकी जो कृति ।
जड़ वक्र बुद्धि से जो मैंने, की हो इसकी विकृति ।
अविनय, अवज्ञा, आशातना, यदि हुई हो श्रुत की वंचना ।
मिच्छामि दुक्कडम् देती हूँ, स्वीकार हो मुझ प्रार्थना ।।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिच्छामि दुक्कडं

आगम मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, जैन जगत की अनुपम साधिका, प्रवर्त्तिनी पद सुशोभिता, खरतरगच्छ दीपिका पू. गुरूवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की अन्तरंग कृपा से आज छोटे से लक्ष्य को पूर्ण कर पाई हूँ।

यहाँ शोध कार्य के प्रणयन के दौरान उपस्थित हुए कुछ संशय युक्त तथ्यों का समाधान करना चाहूँगी–

सर्वप्रथम तो मुनि जीवन की औत्सर्गिक मर्यादाओं के कारण जानते-अजानते कई विषय अनछुए रह गए हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार ही विषय का स्पष्टीकरण हो पाया है अतः कहीं-कहीं सन्दर्भित विषय में अपूर्णता भी प्रतीत हो सकती है।

दूसरा जैन संप्रदाय में साध्वी वर्ग के लिए कुछ नियत मर्यादाएँ हैं जैसे प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, उपस्थापना, पदस्थापना आदि करवाने एवं आगम शास्त्रों को पढ़ाने का अधिकार साध्वी समुदाय को नहीं है। योगोद्वहन, उपधान आदि क्रियाओं का अधिकार मात्र पदस्थापना योग्य मुनि भगवंतों को ही है। इन परिस्थितियों में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या एक साध्वी अनधिकृत एवं अननुभूत विषयों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है?

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध का विषय होने से यत्किंचित लिखना आवश्यक था अतः गुरु आज्ञा पूर्वक विद्वद्वर आचार्य भगवंतों से दिशा निर्देश एवं सम्यक जानकारी प्राप्तकर प्रामाणिक उल्लेख करने का प्रयास किया है।

तीसरा प्रायश्चित्त देने का अधिकार यद्यपि गीतार्थ मुनि भगवंतों को है किन्तु प्रायश्चित्त विधि अधिकार में जीत (प्रचलित) व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त योग्य तप का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य मात्र यही है कि भव्य जीव पाप भीरू बनें एवं दोषकारी क्रियाओं से परिचित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होवें। कोई भी आत्मार्थी इसे देखकर स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण न करें।

इस शोध के अन्तर्गत कई विषय ऐसे हैं जिनके लिए क्षेत्र की दूरी के कारण यथोचित जानकारी एवं समाधान प्राप्त नहीं हो पाए, अतः तद्विषयक पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर पाई हूँ।

कुछ लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि मुद्रा विधि के अधिकार में हिन्दू, बौद्ध, नाट्य आदि मुद्राओं पर इतना गूढ़ अध्ययन क्यों?

मुद्रा एक यौगिक प्रयोग है। इसका सामान्य हेतु जो भी हो परंतु इसकी अनुश्रुति आध्यात्मिक एवं शारीरिक स्वस्थता के रूप में ही होती है।

प्रायः मुद्राएँ मानव के दैनिक चर्या से सम्बन्धित है। इतर परम्पराओं का जैन परम्परा के साथ पारस्परिक साम्य-वैषम्य भी रहा है अतः इनके सद्पक्षों को उजागर करने हेतु अन्य मुद्राओं पर भी गूढ़ अन्वेषण किया है।

यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि शोध विषय की विराटता, समय की प्रतिबद्धता, समुचित साधनों की अल्पता, साधु जीवन की मर्यादा, अनुभव की न्यूनता, व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान की कमी के कारण सभी विषयों का यथायोग्य विश्लेषण नहीं भी हो पाया है। हाँ, विधि-विधानों के अब तक अस्पृष्ट पन्नों को खोलने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रज्ञा सम्पन्न मुनि वर्ग इसके अनेक रहस्य पटलों को उद्घाटित कर सकेंगे। यह एक प्रारंभ मात्र है।

अन्ततः जिनवाणी का विस्तार करते हुए एवं शोध विषय का अन्वेषण करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढ़ार्थ को यथारूप न समझा हो, अपने मत को रखते हुए जाने-अनजाने अर्हतवाणी का कटाक्ष किया हो, जिनवाणी का अपलाप किया हो, भाषा रूप में उसे सम्यक अभिव्यक्ति न दी हो, अन्य किसी के मत को लिखते हुए उसका संदर्भ न दिया हो अथवा अन्य कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध किया हो या लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोगपूर्कक श्रुत रूप जिन धर्म से मिच्छामि दुक्कड़म् करती हूँ।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शोध प्रबन्ध सार

पूजा विधान, अनुष्ठान और अध्यात्म मूलक साधनाएँ प्रत्येक उपासना पद्धति के अनिवार्य अंग हैं। कर्मकाण्डपरक अनुष्ठान इनका शरीर है तो अध्यात्म साधना इनका प्राण। भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से ही दोनों प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है। दोनों ही धर्म साधनाओं का मुख्य आधार है विधि-विधान। किसी भी कार्य की सफलता का मूल आधार उसकी सम्पादन की विधि होती है।

''विधिपूर्वमेव विहितं कार्यं सर्वं फलान्वितं भवति।'' अर्थात कोई भी कार्य जब विधि पूर्वक किया जाता है तब ही वह सफल बनता है। विधि का अर्थ है कार्य करने का तरीका। वह कार्य चाहे व्यापार सम्बन्धी हो, व्यवहार सम्बन्धी हो या अध्यात्म सम्बन्धी, उसे पद्धति पूर्वक सम्पन्न करना अत्यंत आवश्यक होता है क्योंकि तभी वह कार्य शुभ परिणामों में हेतुभूत बन सकता है।

व्यावहारिक जीवन में आचारगत व्यवस्था की अहम् भूमिका है। भारतीय सभ्यता में आचारपक्ष का वर्गीकरण विभिन्न सिद्धान्तों, दृष्टियों और मर्यादाओं के अनुसार किया गया है। उसी आचार व्यवस्था के आधार पर विविध धर्म संप्रदायों एवं नैतिक मूल्यों का गठन हुआ है। अतएव सभी धर्मों का केन्द्र बिन्दु यही आचारगत नैतिक व्यवस्था मानी जाती है। यही मानव धर्म का नियामक तत्त्व है। देश-काल के अनुसार इन व्यवस्थाओं में परिवर्तन एवं परिवर्धन भी होता रहा है।

भारतीय संस्कृति की प्रायः सभी परम्पराओं में विधि-विधानों का अस्तित्व देखा जाता है। किसी परम्परा में मौलिक विधि-विधान कम हो सकते हैं तो किसी में अधिक, परंतु सभी के अपने रीति-रिवाज और अपनी स्वतंत्र परम्परा है। जंगल में रहने वाले आदिवासी लोगों की भी अपनी सभ्यता एवं नियम-मर्यादाएँ होती है। मानव एक सामाजिक प्राणी माना जाता है और समुदाय में रहने के लिए कोई न कोई व्यवस्था होना आवश्यक है। वस्तुतः विधि-विधान समाज में नियामक मर्यादाओं का कार्य करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आर्य संस्कृति मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित है– 1. प्रवृत्ति मूलक वैदिक परम्परा एवं 2. निवृत्ति मूलक श्रमण परम्परा।

1. प्रवृत्तिमूलक परम्परा– प्रवृत्तिमार्गी परम्परा में मुख्य रूप से वैदिक धर्म का समावेश होता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट होता है कि यहाँ प्रवृत्ति अर्थात क्रियाकांड को मुख्यता दी जाती है। प्रवर्त्तक धर्म भोग प्रधान धर्म है। यहाँ पर धर्म साधना का मुख्य लक्ष्य सुख-सुविधाओं की प्राप्ति ही रहा है। इस परम्परा के प्रवर्त्तकों ने लौकिक जीवन के लिए धन-धान्य, पुत्र-सम्पत्ति आदि की कामना की है तो लोकोत्तर जीवन में स्वर्ग प्राप्ति की। जब उन प्रवर्त्तकों को यह अनुभूति हुई कि इन सुख-सुविधाओं की प्राप्ति मात्र पुरुषार्थ के आधार पर नहीं हो सकती, इसके लिए किसी अदृश्य दैविक शक्ति की कृपा एवं सहयोग भी आवश्यक है। तब से ही इस परम्परा में देवी-देवताओं को प्रसन्न करने तथा यज्ञ, हवन, बलि, स्तुति आदि द्वारा उन्हें संतुष्ट करने की परम्परा प्रारंभ हुई। इसी आधार पर प्रवर्त्तक धर्म में दो शाखाओं का विकास हुआ– 1. भक्तिमार्ग और 2. कर्ममार्ग।

यह संस्कृति मूलतः भौतिकता प्रधान रही है। अतएव यहाँ यज्ञ, हवन आदि कर्मकाण्डों की एवं गृहस्थ जीवन की मुख्यता देखी जाती है। परंतु गृहस्थ जीवन एवं सामाजिक व्यस्तताओं के बीच ज्ञान और वैराग्यपूर्ण जीवन यापन करना दुष्कर होता है, इसलिए यहाँ भी संन्यास मार्ग का विकास हुआ। संन्यासियों का मार्ग भक्ति मार्ग कहलाया और गृहस्थ का कर्त्तव्य प्रधान मार्ग कर्ममार्ग कहलाया। इस परम्परा में भी आत्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि की अवधारणा है तथा उस हेतु संन्यास मार्ग को आवश्यक माना है। वस्तुतः यहाँ पर गृहस्थ जीवन को मुख्यता देते हुए जीवन के शेष भाग में संन्यास ग्रहण का विधान बताया गया है। इसी कर्म मूलक व्यवस्था के कारण यह परम्परा प्रवृत्तिमार्गी परम्परा कहलाई।

2. निवृत्तिमूलक परम्परा– निवृत्तिमार्गी परम्परा, श्रमण परम्परा के नाम से विख्यात है। जैन एवं बौद्ध संप्रदाय इसी परम्परा के मुख्य प्रतिनिधि हैं। यह धर्म संघ मुख्य रूप से चार वर्गों में विभाजित है– 1. भिक्षु 2. भिक्षुणी 3. श्रावक एवं 4. श्राविका।

साधु-साध्वी का संघ श्रावक-श्राविकाओं की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं सुनियंत्रित होता है। श्रावक-श्राविकाओं को व्रत, नियम आदि के पालन में व्यक्तिगत स्वतंत्रताएँ होती है। वे अपनी रुचि, शक्ति, परिस्थिति आदि के अनुसार यथायोग्य धार्मिक क्रिया करते हैं एवं सामाजिक मर्यादा अनुसार व्यवहारिक प्रवृत्तियों में लगे रहते हैं। इसी के विपरीत श्रमण वर्ग सांसारिक क्रियाकलापों से सर्वथा मुक्त रहते हुए संयम, तप, त्याग की आराधना के माध्यम से अध्यात्म मार्ग पर गतिशील रहते हैं। श्रमण जीवन स्वार्थ एवं परार्थ कल्याण का मार्ग है। श्रमण आत्म विद्या की उपलब्धि करते हुए गृहस्थ वर्ग को आध्यात्मिक मार्ग का पाथेय प्रदान करते हैं। जिससे गृहस्थों द्वारा इस मार्ग पर चलते हुए कुछ विशिष्ट प्रकार की आचार व्यवस्था या विधि व्यवस्था का अनुपालन किया जाता हैं। जैन एवं बौद्ध दोनों संप्रदायों में गृहस्थ और मुनि की आचार संहिता का निरूपण हुआ है। यद्यपि अधिकांश विधि सम्बन्धी नियमों एवं उपनियमों का निर्माण प्रमुख रूप से भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए देखा जाता है।

जैन एवं बौद्ध धर्म की आचार व्यवस्था का मुख्य आधार भगवान महावीर एवं भगवान बुद्ध के उपदेश रहे हैं। इनमें से कई नियमों का निर्धारण तीर्थंकरों के द्वारा किया गया तो कई नियम-उपनियम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी एवं गीतार्थ आचार्यों द्वारा बनाए गए। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को दृष्टि में रखते हुए मूल नियमों के अनुकूल एवं अविरोधी नियम-उपनियम भी बनाए गए। आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार जो नियम संयम साधना में वृद्धि करे एवं असंयम की प्रवृत्तियों का विरोध करे वह सभी विधि के रूप में ग्राह्य हैं।

जैन एवं बौद्ध परम्परा निवृत्तिमार्गी होने के साथ-साथ मूल रूप में आचार प्रधान हैं। परन्तु दोनों पद्धतियों की आचार व्यवस्था में अंतर भी है। निवृत्तिमार्गी परम्परा का मुख्य लक्ष्य योगों से विरक्ति अर्थात मोक्ष की प्राप्ति है। इसी कारण यहाँ ज्ञान एवं वैराग्य की साधना को प्रमुखता दी गई है।

निवृत्तिमार्गी परम्परा के प्रारंभ काल में कर्मकाण्ड का कोई स्थान नहीं था। परन्तु क्रमशः वैदिक परम्परा एवं लौकिक रीति-रिवाजों के प्रभाव से इनमें भी कर्मकाण्ड का प्रवेश होने लगा। वर्तमान में श्रमण परम्परा के जीवन्त धर्मों में बौद्ध धर्म और जैन धर्म का ही अस्तित्व प्राप्त होता है। दोनों का जन्म एवं विकास तो इसी भारत की भूमि पर हुआ परंतु बौद्ध धर्म आज दूर-सुदूर विदेशों में जाकर भी फैल गया है। जैन धर्म बौद्ध धर्म के जितना व्यापक स्वरूप नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ले पाया फिर भी सम्पूर्ण विश्व में इसे आदर्श एवं अनुकरणीय धर्म के रूप में माना जाता है।

दोनों ही परम्पराओं के अनुयायी तपस्या आदि चेष्टाओं के द्वारा कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्ति को महत्त्व देते हैं।

प्रवर्त्तक और निवर्त्तक धर्म में विधि-विधानों के उद्भव एवं विकास के विषय में विद्वज्ञ डॉ. सागरमलजी जैन द्वारा प्रस्तुत यह सारणी दृष्टव्य है।

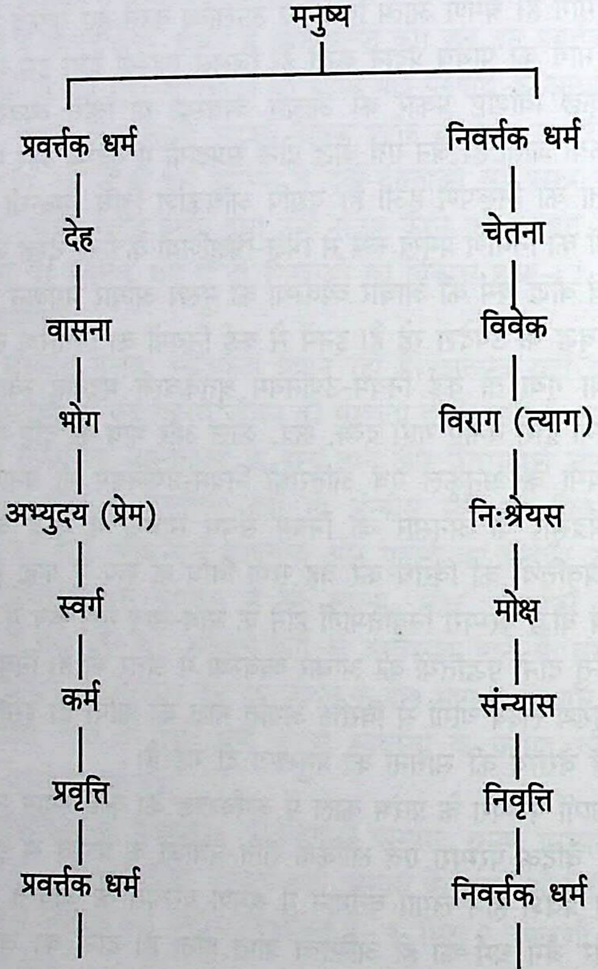

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अलौकिक शक्तियों की उपासना		आत्मोपलब्धि	
समर्पण मूलक भक्ति मार्ग	यज्ञ मूलक कर्म मार्ग	चिंतन प्रधान ज्ञान मार्ग	देहदण्डन मूलक तप मार्ग

उक्त सारिणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ही परम्पराओं का विकास भिन्न-भिन्न दृष्टियों से हुआ है। दोनों में मुख्य मतभेद का कारण कर्मकांड ही है।

दोनों परम्पराओं में रही पारस्परिक भिन्नता को निम्न सारणी के माध्यम से और अधिक स्पष्ट जाना जा सकता है।

	प्रवर्त्तक धर्म	**निवर्त्तक धर्म**
1.	जैविक मूल्यों की प्रधानता	आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता
2.	विधायक जीवन दृष्टि	निषेधात्मक जीवन दृष्टि
3.	समष्टिवादी	व्यष्टिवादी
4.	व्यवहार में कर्म का महत्त्व फिर भी दैविक शक्तियों की कृपा पर विश्वास	व्यवहार में नैष्कर्मण्यता का समर्थन करते हुए आत्मकल्याण हेतु वैयक्तिक पुरुषार्थ पर विश्वास
5.	ईश्वरवादी	अनीश्वरवादी
6.	ईश्वरीय कृपा एवं लीलाओं पर विश्वास	वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास, कर्म सिद्धान्त का समर्थन
7.	साधना के बाह्य साधनों पर बल	आन्तरिक विशुद्धता का महत्त्व
8.	जीवन का लक्ष्य स्वर्ग या ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति	जीवन में मोक्ष या निर्वाण प्राप्ति का लक्ष्य
9.	वर्ण व्यवस्था और जन्मना जातिवाद का समर्थन	जातिवाद का विरोध, कर्मों के आधार पर वर्ण व्यवस्था का समर्थन
10.	गृहस्थ जीवन की प्रधानता	संन्यास जीवन की प्रधानता
11.	सामाजिक जीवन शैली	एकाकी जीवन शैली
12.	राजतन्त्र का समर्थन	जनतन्त्र की समर्थन
13.	शक्तिशाली की पूजा	सदाचारी का पूजा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

14.	विधि-विधानों एवं कर्मकाण्डों की प्रधानता	ध्यान और तप की प्रधानता
15.	पुरोहित वर्ग का विकास	श्रमण संस्था का विकास
16.	उपासना मूलक	समाधि मूलक

उपरोक्त सारिणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक धर्म मूलतः प्रवृत्ति प्रधान है और श्रमण धर्म निवृत्ति प्रधान। यदि दोनों परम्पराओं की अर्वाचीन स्थिति पर दृष्टिपात करें तो यह ज्ञात होता है कि हिन्दू धर्म में भले ही यज्ञ, हवन और कर्मकाण्ड की प्रधानता रही फिर भी संन्यास, वैराग्य और मोक्ष का अभाव है। वहीं कालान्तर में श्रमण धारा ने भी चाहे-अनचाहे वैदिक परम्परा से बहुत कुछ ग्रहण किया है। इसी कारण निवृत्ति मूलक श्रमण परम्परा में आज कर्मकाण्ड रूप पूजा पद्धति एवं विधि-विधानों का विकसित रूप दृष्टिगम्य होता है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय श्रमण परम्परा ने वैदिक परम्परा को आध्यात्मिक दृष्टि के साथ तप, त्याग, संन्यास और मोक्ष की अवधारणाएँ प्रदान की। वहीं तीसरी-चौथी शती के बाद से जैन एवं बौद्ध परम्परा में पूजा-विधान और तान्त्रिक साधनाएँ प्रविष्ट हो गई। अनेक हिन्दू देव-देवियों के प्रकारान्तर श्रमण धर्म में भी स्वीकार किए गए। अनेक विधि-विधान भी हिन्दू परम्परा के विधानों के समान ही होने लगे हैं। कई स्थितियों में विधि-विधान की प्रमुखता उचित भी मालूम होती है।

दोनों ही परम्पराओं का प्रारम्भिक स्रोत यद्यपि भिन्न-भिन्न रहा परन्तु मध्यकाल तक आते-आते दोनों ही परम्पराएँ एक दूसरे से अत्यधिक प्रभावित हो चुकी थी। पूजा-प्रतिष्ठा सम्बन्धी विधि विधानों में ही यह समरूपता परिलक्षित होती है। आचार सम्बन्धी विधि-विधानों में तो आज भी आगमिक स्रोतों का ही पुट दिखाई देता है।

विधि-विधानों के इसी बदलाव एवं वर्तमान पद्धति में बढ़ रहे उनके अत्यधिक प्रभाव ने मन में अनेक प्रश्न उपस्थित किए। आखिर जैन धर्म में विधि-विधानों का अस्तित्व कब से और कैसे आया? जैन संस्कृति के मूल विधान कौन-कौन से हैं? प्रारम्भ काल में विधि-विधान किए जाते थे या नहीं? आगम काल से अब तक विभिन्न विधि-विधानों का क्या स्वरूप रहा? विधि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विधानों की आवश्यकता क्यों है? आदि-आदि। इन्हीं प्रश्नों ने सत्रह वर्ष पूर्व विधि-विधान सम्बन्धी अमूल्य ग्रन्थ **विधिमार्गप्रपा** के अनुवाद एवं शोध हेतु मुझे प्रेरित किया।

विधिमार्गप्रपा के गहन अध्ययन ने मन में उठ रहे कुछ प्रश्नों का समाधान किया तो कई नए प्रश्नों को जन्म भी दिया। रहस्यों पर से परतें हट रही थी या बढ़ रही थी यह समझ में नहीं आ रहा था। जितना भीतर जाने का प्रयास किया जा रहा था रहस्य उतने ही गहरे होते जा रहे थे। अंततोगत्वा विधि विधान सम्बन्धी प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों का परिशीलन किया। जिसके माध्यम से कई ऐसे रहस्य प्रकट हुए जिन्हें जन सामान्य में लाना आवश्यक प्रतीत हुआ। विभ्रान्त मान्यता एवं भ्रमित अवस्था का सटीक समाधान भी इसी के द्वारा संभव था। परंतु साधु जीवन की सामाजिक जिम्मेदारियों के साथ बिना किसी बंधन के इस कार्य को पूर्ण करने में वर्षों व्यतीत हो जाते अत: मेरी ज्येष्ठ गुरुभगिनी परम पूज्या प्रियदर्शना श्रीजी म.सा. एवं जैन साहित्य मनीषी डॉ. सागरमलजी जैन ने D.lit. शोध के रूप में इस कार्य को सम्पन्न करने का सुझाव दिया और कहा इससे इसकी प्रामाणिकता एवं विश्वग्राह्यता बढ़ेगी। डिग्री लेने का कोई महत्त्व या ध्येय तो कभी भी नहीं था मात्र इस सन्दर्भित ग्रन्थों का सर्वांगीण एवं समीक्षात्मक अध्ययन करना था जो शोध के माध्यम से ही संभव लग रहा था।

यहाँ उल्लेखनीय है कि इस शोध कार्य को अपेक्षाकृत और अधिक विस्तार दिया जा सकता था किन्तु विश्वविद्यालय की समय सीमा के बंधन के कारण यह कार्य सीमित अवधि में पूर्ण किया जा रहा है।

विधि-विधानों की आवश्यकता क्यों?

मानव एक सामाजिक प्राणी है। समूह में रहते हुए प्रत्येक कार्य के लिए कुछ नियम एवं मर्यादाएँ होना आवश्यक है। सामाजिक गतिविधियों को कुछ सीमाओं में बांधना आवश्यक होता है। इसी कारण जीवन की हर क्रिया से कुछ मर्यादाएँ जुड़ी हुई है। विधि अर्थात किसी भी कार्य को सम्पन्न करने की सम्यक रीति। कार्य सिद्धि के लिए उचित विधि का सम्पादन आवश्यक होता है तभी वह अथ से इति तक पहुँचती है। जैन परम्परा में विधि-विधान या अनुष्ठान का अर्थ क्रिया, आचरण या सम्यक प्रवृत्ति किया जाता है। यह ध्यातव्य है कि यहाँ पर मात्र क्रिया का कोई महत्त्व नहीं है। ज्ञान पूर्वक की गई प्रवृत्ति ही फलदायी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है। शास्त्र वचन भी है– "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" अर्थात ज्ञान और क्रिया दोनों के समाचरण से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। एकान्त क्रिया या एकान्त ज्ञान से साधना की संसिद्धि कभी नहीं होती। साधना एवं सफलता के शिखर को छूने के लिए दोनों का समीकरण आवश्यक है।

जगत की प्रत्येक वस्तु ज्ञान एवं क्रिया पूर्वक ही संचालित होती है। ज्ञान और क्रिया एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक ही रथ के दो पहिये हैं। यदि एक न हो तो दूसरे का अस्तित्त्व अपने आप ही समाप्त हो जाता है और वह रथ कभी अपने गंतव्य तक पहुँच भी नहीं सकता।

क्रिया रहित ज्ञान मार्ग को जानने वाले, उस पथिक के समान हैं जिसे रास्ते का ज्ञान तो है परन्तु मार्ग पर गति नहीं है और बिना गति किए बिना वह कभी अपनी मंजिल तक पहुँच ही नहीं सकता। वैसे ही शास्त्रों को जानने वाला साधक यदि तदनुरूप सामायिक, प्रतिक्रमण आदि का आचरण नहीं करता है तो वह कभी भी मोक्ष मंजिल को प्राप्त नहीं कर सकता। तत्त्वार्थसूत्र में इसीलिए कहा गया है– 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः' अर्थात सम्यकदर्शन (Right Faith), सम्यकज्ञान (Right Knowledge) और सम्यकचारित्र (Right Character) ये तीनों मिलकर ही मोक्ष मार्ग का प्रणयन कर सकते हैं।

किसी कवि ने कहा है–

क्रिया बिना ज्ञान नहीं कबहूं, क्रिया ज्ञान बिनु नाहिं।
क्रिया ज्ञान दोउ मिलत रहत है, ज्यों जलरस जल माहिं।

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार आचरण विहीन अनेक शास्त्रों का ज्ञाता भी संसार समुद्र से पार नहीं हो सकता। जिस प्रकार निपुण चालक भी वायु की गति के अभाव में जहाज को किनारे नहीं पहुँचा सकता उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा भी तप, संयम, क्रिया रूप सदाचरण के अभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। मात्र ज्ञान होने से कभी भी कार्य सिद्धि नहीं होती। कोई यदि तैरने की कला में पी.एच.डी. भी कर ले परन्तु यदि तैरने की क्रिया नहीं जानता हो तो डूबते समय उसका ज्ञान किसी काम का नहीं है, इसी प्रकार शास्त्रों का ज्ञान होने पर भी व्यक्ति जब तक धर्म का आचरण नहीं करता तब तक उसका शास्त्र ज्ञान उसे संसार सागर से पार नहीं कर सकता। ज्ञान रहित आचरण कभी भी सम्यक या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदर्श आचरण नहीं हो सकता। इसी प्रकार सम्यकदर्शन के अभाव में ज्ञान युक्त आचरण भी मात्र नवग्रैवेयक तक पहुँचा सकता है किन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं करवा सकता। इससे यह निश्चित है कि तीनों की समन्विती आवश्यक है। इन शास्त्र वचनों से यह भी सुसिद्ध हो जाता है कि क्रिया मोक्ष प्राप्ति का आवश्यक चरण है। परन्तु कब, कौनसी क्रिया, कितनी आवश्यक है? यह अनुभवगम्य विषय है।

प्रश्न हो सकता है कि जब क्रिया को इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है तो फिर जैन धर्म को निवृत्ति मूलक क्यों कहा? इस शंका का समाधान पूर्व में भी कर चुके हैं कि जैन विधि-विधानों में क्रिया का अर्थ है सम्यक आचरण। ऐसा आचरण जो जीव को शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति करवाए। वैदिक ग्रन्थों में क्रिया का अर्थ यज्ञ, हवन, पूजा, उपासना आदि से युक्त क्रियाकांड माना गया है। जबकि जैन तीर्थंकरों ने स्वर्ग आदि की इच्छा से ऐसे कार्यों के सम्पादन का विरोध किया है। मोक्ष प्राप्ति हेतु ऐसे क्रियाकांड उन्हें आवश्यक प्रतीत नहीं हुए। इन प्रवृत्तियों से निरपेक्ष धर्म की स्थापना करने के कारण श्रमण परम्परा निवृत्ति मूलक कहलाई। जैन धर्म क्रियाकांड रहित होने पर भी इसमें आचार मार्ग को सदा काल से प्रमुखता दी गई हैं। यहाँ आचारगत कई ग्रन्थों एवं नियमोपनियमों का भी गठन किया गया है। आचारांग आदि आगमों की रचना इसी का प्रमाण है अत: यह कह सकते हैं कि जैन परम्परा में क्रिया को महत्त्वपूर्ण माना गया है परंतु एकान्त क्रिया को मोक्ष का हेतु नहीं माना है।

जैन धर्म को निवृत्ति मूलक कहने का दूसरा हेतु है मोक्ष मार्ग की प्रधानता। जैन विधि-विधानों का मुख्य उद्देश्य कर्म मुक्त अवस्था की प्राप्ति है। सांसारिक सुखों की प्राप्ति हेतु किसी भी विधान का गुंफन हुआ हो, ऐसा देखने में नहीं आया हैं अत: समस्त क्रियाओं का लक्ष्य निवृत्त अवस्था होने से भी इसे निवृत्ति मूलक धर्म कहा गया है। वर्तमान में लौकिक सुख की कामना से युक्त जो भी विधि-विधान करवाएँ जाते हैं वे आगमोक्त नहीं है। परवर्ती काल में विविध सामाजिक रीति-रिवाजों एवं अन्य सामयिक धर्म संप्रदायों के प्रभाव से कुछ क्रियाकांडों का प्रवेश जैन परम्परा में भी अवश्य हुआ और उसी का विकसित रूप आज विविध क्रिया-अनुष्ठानों के रूप में देखा जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विधि-विधानों का मौलिक उद्देश्य

जैन परम्परा में प्राय: आराधनाएँ विधि-विधान युक्त होती हैं। फिर चाहे वह विधि-विधान लघु रूप हो या बृहद् रूप। यहाँ सबसे मुख्य प्रश्न है कि इन विधि-विधानों का उद्देश्य क्या है? यदि सूक्ष्मता पूर्वक इस विषय पर चिंतन किया जाए तो निम्न तथ्य परिलक्षित होते हैं–

- विधि-विधानों का मुख्य उद्देश्य संसारी आत्मा को शुद्ध आत्म स्वरूप की अनुभूति करवाना है।
- विधि-विधान करना अर्थात धार्मिक क्रिया-कलापों में संलग्न रहना। इससे समय तो सार्थक होती ही है। इसी के साथ ही नए पाप कर्मों का बंधन बाधित होता है एवं पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।
- शुभ क्रियाएँ करने से मन सद्विचारों में प्रवृत्त रहता है। सम्यक विचार ही सदाचार एवं सद्व्यवहार में हेतुभूत बनते हैं। इसके द्वारा एक सुसंस्कृत समाज का निर्माण हो सकता है।
- ऋषि-मुनियों एवं धर्माचार्यों द्वारा गुम्फित विधान मात्र आध्यात्मिक प्रगति में ही हेतुभूत नहीं बनते। इनके पीछे कई प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक तथ्य भी रहे हुए हैं जो विश्व व्यवस्था के संतुलन हेतु आवश्यक है।
- विधि-विधान करने का अभिप्राय है मानव को मानवीय मर्यादाओं का ज्ञान एवं परिपालन करवाना। इससे पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवस्था सुगठित रहती है।
- भिन्न-भिन्न विधान मानव का भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विकास करते हैं जैसे-सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ मुख्य रूप से वैयक्तिक जीवन को प्रभावित करती हैं। वही वंदन, पूजन, प्रतिष्ठा आदि विधान सामुदायिक रूप में किए जाते हैं। इनसे आपसी मन-मुटाव दूर होते हैं और सम्बन्धों में प्रगाढ़ता बढ़ती है।
- धार्मिक क्रिया अनुष्ठानों के द्वारा पाप प्रवृत्तियाँ न्यून होने से दुष्कर्म समाप्त हो जाते हैं और आत्मा परमात्मा बन जाती है।
- शुभ आराधनाओं से मानसिक विकारों का शमन होता है और विषय कषाय आदि मन्द हो जाते हैं।
- सामायिक आदि विविध अनुष्ठानों के द्वारा राग-द्वेष की परिणति कम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है, वैर-विरोध की भावना घट जाती है तथा मैत्री, प्रमोद, वात्सल्य आदि गुणों का विकास होता है।

• शुभ अनुष्ठानों के द्वारा यह सांसारिक मन छल, कपट, प्रपंच आदि दोषों से मुक्त होता है।

• प्रायश्चित्त एवं आलोचना रूप प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ आत्म विशुद्धि में परम सहायक बनती हैं। इसमें विविध आसन, मुद्रा आदि का प्रयोग शरीर को स्वस्थ, निरोगी एवं संतुलित रखता है। कृत पापों की बार-बार आलोचना करने से पाप मुक्ति का संकल्प मजबूत होता है। आचार में सात्विकता एवं समता का वर्धन होता है। मानसिक हलचल समाप्त होती है। टेंशन, डिप्रेशन आदि से मुक्ति मिलती है।

• वंदना, नमस्कार आदि नित्य क्रियाओं से नम्रता, सरलता, विवेकशीलता आदि गुणों का वर्धन होता है। अहंकार एवं आग्रह बुद्धि नष्ट होती है।

• जिनप्रतिमा पूजन-दर्शन आदि विधानों के माध्यम से जीवन में सुंदर लक्ष्य का निर्माण होता है। इससे उच्च आदर्श एवं उदात्त उच्च जीवन की प्राप्ति होती है।

• प्रत्याख्यान आदि विधियों का पालन मानसिक एवं शारीरिक तृष्णा को मन्द करता है। इससे संकल्प में दृढ़ता आती है। यह त्याग एवं आसक्ति भाव को बढ़ाता है। इस नियम के द्वारा तृष्णा एवं संग्रह वृत्ति कम होने से जीवन में संतोष गुण की अभिवृद्धि होती है।

• तपस्या कर्म निर्जरा का प्रमुख साधन है। इसी के साथ शारीरिक स्वस्थता हेतु यह सर्वश्रेष्ठ औषधि है। यह रोगाणुओं का नाश करती है एवं रोग प्रतिरोधक शक्ति का विकास करती है। इससे मन शांत होता है। तन और मन शान्त रहने से आत्म साधना को सम्यक दिशा मिलती है। मन, वचन और काया योग शुभ की ओर प्रवृत्त होते हैं जो भविष्य में मोक्ष का कारण बनते हैं।

• व्रत ग्रहण, प्रव्रज्या आदि के विधान कर्म बन्ध को सीमित करते हैं। ये सामूहिक स्तर पर आयोजित होने से अन्य लोगों को तद्हेतु प्रेरित भी करते हैं। इसी के साथ देव, गुरु एवं आत्मसाक्षी में होने से इनमें दृढ़ता भी कायम रहती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• प्रतिष्ठा आदि बृहद आयोजन सम्पूर्ण जन मानस में नये उत्साह को उत्पन्न करते हैं। युवा पीढ़ी को धर्म में जोड़ने में सहायक बनते हैं। सामाजिक संगठन एवं हर्षोल्लास में वृद्धि करते हैं। इससे आपसी प्रेम एवं एकता का माहौल बनता है। जिन धर्म की महिमा होती है।

• मंत्र जाप, स्तुति, ध्यान आदि क्रियाओं के द्वारा त्रियोग की शुद्धि होती है। मन एकाग्र बनता है। वाणी पर संयम बढ़ता है एवं काया स्थिर बनती है। जीवन में शान्ति और आनंद की स्थापना होती है।

इस प्रकार विविध रूप में सम्पन्न किए जाने वाले भिन्न-भिन्न विधि-विधानों का मुख्य ध्येय आत्मा की विशुद्धि एवं जन्म-मरण की परम्परा से मुक्ति है। इनके आचरण से आंतरिक समृद्धि बढ़ने के साथ-साथ बाह्य सुख-सम्पत्ति एवं समृद्धि भी सहज रूप में उपलब्ध होती है।

विधि-विधानों का उल्लेख परवर्ती ग्रन्थों में सर्वाधिक क्यों?

जब हम आगमेतर ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि जैन विधि-विधानों की विस्तृत चर्चा लगभग विक्रम की छठवीं शती से पन्द्रहवीं शती तक के ग्रंथों में प्राप्त होती है। प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों? क्या विधि-विधान आगम कालीन नहीं है? अथवा अन्य समकालीन परम्पराओं का प्रभाव है? आगम आदि में इनका कोई स्वरूप प्राप्त होता है या नहीं? इसी तरह की कई शंकाएँ ऐतिहासिकता एवं प्रामाणिकता के विषय में उठती है।

यदि हम आगमों का अनुशीलन करें तो इनमें विधि-विधानों का उल्लेख सांकेतिक रूप में प्राप्त होता है। यह कह सकते हैं कि आगमों में विधि-विधानों के स्वरूप की चर्चा तो है पर वह विस्तृत रूप में नहीं है मात्र कुछ एक क्रियाओं का विकसित स्वरूप ही प्राप्त होता है। परन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय में भी क्रियाएँ होती थी। परंतु उनका स्वरूप बहुत संक्षिप्त था। जैसे कि तीर्थंकरों की दीक्षा या उनके द्वारा दीक्षित करने के प्रसंग, बारह व्रत ग्रहण करने के प्रसंग आदि आगमों में प्राप्त होते हैं। परमात्मा ने एक वर्ष तक वर्षीदान दिया, फिर माता-पिता एवं ज्येष्ठ जनों की अनुमति पूर्वक दीक्षा हेतु वन में गए, वहाँ पंचमुष्टि लोच कर 'करेमि भंते' सूत्र का उच्चारण कर मुनि बन गए। वर्तमान विधि-विधानों के परिप्रेक्ष्य में यह चर्चा बहुत संक्षिप्त है। प्रश्न हो सकता है ऐसा क्यों? मेरा मानना है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1. जब आगम लिपिबद्ध हुए उस समय तक क्रियाओं में बाह्य आडंबर की बहुताधिकता नहीं थी।

2. उस समय में स्मृति बल तीव्रतम था और जो गुरु परम्परा से प्राप्त होता था उसका अनुकरण किया जाता था। आगमों में वैसे भी संक्षिप्त चर्चाएँ ही अधिक प्राप्त होती है।

जैन शास्त्रों में विधि-विधान का विकास कब और क्यों हुआ?

परवर्ती ग्रन्थों का अध्ययन करने पर विक्रम की आठवीं शती में हमें टीका ग्रंथों एवं हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों में इनका क्रमशः विकसित स्वरूप प्राप्त होता है जैसे कि पंचवस्तुक, पंचाशक प्रकरण, षोडशक प्रकरण आदि। जैसे कि आगमों में आहार चर्या के संबंध में इतना ही कहा गया है कि मुनि को निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए। अमुक-अमुक स्थानों का आहार नहीं लेना चाहिए, आहारार्थ गमन करते हुए अमुक नियमों का पालन करना चाहिए आदि। परन्तु सदोष आहार या गोचरी के दोषों की संयुक्त चर्चा सर्वप्रथम पिण्डनिर्युक्ति में प्राप्त होती है। दसवीं से पन्द्रहवीं शती के ग्रन्थों में विधि-विधान सम्बन्धित चर्चा का पूर्ण विकसित स्वरूप प्राप्त होता है इसके निम्न कारण हो सकते हैं–

विक्रम की छठी से आठवी शती के बीच हिन्दु क्रिया-काण्डों में आडंबर बढ़ गया था इसका प्रभाव जैन धर्म के अनुयायियों पर भी पड़ने लगा, कई लोग आडंबर एवं भौतिक इच्छापूर्ति हेतु उस ओर आकर्षित होने लगे थे। ऐसे में धर्म को विच्छिन्न होने से बचाने के लिए तथा गृहस्थों को अन्य धर्म की तरफ विमुख होने से बचाने के लिए गीतार्थ धर्माचार्यों द्वारा देश-काल परिस्थिति के आधार पर कुछ क्रिया काण्ड एवं आडंबर कुछ समय के लिए स्वीकार किए गए परन्तु तदनन्तर उनका बहिष्कार न होने से वे परम्परा बनकर शामिल हो गए।

उदाहरणतः जैन धर्म में परमात्मा के आंगी की परम्परा पूर्व में नहीं थी, परंतु जब जैन धर्मावलम्बी वैष्णव धर्म की तरफ आकर्षित होने लगे तब उन्हें पुनः स्थापित करने हेतु आंगी आदि की जाने लगी और आज यह पर्वादि दिनों का आवश्यक अंग बन चुका है। आजकल आंगी में परमात्मा के मूल स्वरूप को विस्मृत कर उस आंगी के आधार पर जिनबिम्ब का मूल्यांकन करने लगते हैं तथा कई बार ऐसी वस्तुएँ आंगी में प्रयुक्त होती है जो नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार कई सत् एवं असत् वृत्तियाँ सम्मिलित हो गई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कई क्रियाओं का आगमन लोक-व्यवहार या रीति-रीवाजों के कारण भी हुआ जैसे दीक्षा की ओढ़ी में पान-सुपारी रखना। यह लोक व्यवहार के कार्यों में मंगल स्वरूप प्रयुक्त होती थी, धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति उत्तम धार्मिक कार्यों में भी सम्मिलित हो गई।

पूर्व काल में गृहस्थ एवं साधु-साध्वी निर्भीक एवं आत्मार्थी होते थे। परन्तु काल प्रभाव से उनमें देवी देवताओं के प्रकोप आदि को लेकर भय आदि बढ़ने लगा और गिरते साधनाबल के कारण व्यंतर देवी-देवताओं का प्रभाव भी बढ़ने लगा। इस कारण से उनके निवारण हेतु कई क्रियाएँ विधि-विधानों में सम्मिलित हुई जैसे कि बाकुले आदि का दान, देवी-देवताओं के पूजन आदि।

कई विधि-विधानों का स्वीकार बढ़ते गच्छ एवं परम्परा भेद के कारण भी हुआ, भले ही सबका मूल प्रयोजन और हार्द एक ही है परन्तु आमूल-चूल परिवर्तन के साथ सभी ने स्व परम्परा के नाम एवं मोह में उन्हें स्वीकार किया जैसे कि प्रतिक्रमण विधि, सामायिक विधि सूरिमंत्र आदि में कई भेद प्राप्त होते हैं।

कई विधि परम्पराएँ देश-काल-क्षेत्र आदि के कारण भी प्रविष्ट हुई ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि वर्तमान में चल रहे विविध महापूजन यथा– पार्श्व पद्मावती महापूजन आदि। प्राचीन महापूजनों में तो नवपद पूजन, बीसस्थानक पूजन, शांतिस्नात्र पूजन आदि हैं यह सब काल एवं क्षेत्र का ही प्रभाव है। कई ऐसे विधि-विधान भी हैं जिन्हें पूर्वाचार्यों या गीतार्थ मुनियों ने आवश्यक जानकर बाद में सम्मिलित किए। जैसे कि प्रतिक्रमण में मूल विधि तो षडावश्यक तक ही है, परन्तु मूर्तिपूजक परम्परा में दैवसिक प्रतिक्रमण के अन्तर्गत सज्झाय, चार लोगस्स के कायोत्सर्ग, श्री सेढ़ी आदि चैत्यवंदन चौदहवीं शती के आस-पास सम्मिलित हुए तथा इसका प्रथम उल्लेख विधिमार्गप्रपा में ही मिलता है। इस प्रकार विधि-विधानों का मूल हार्द तो वही रहा किन्तु समयानुसार उसे करने के तरीकों में कुछ परिवर्तन होता रहा, जो कि विवेक, श्रद्धा एवं परिस्थिति के आधार पर ग्राह्य है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि, विधि-विधानों का एक क्रमिक विकास हमें आगम-ग्रन्थों से वर्तमान युग तक मिलता है। इनका मूल तो आगमों में ही गर्भित है तथा उसी बीज के आधार पर आज विधि-विधानों का यह घना वटवृक्ष पल्लवित हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्तमान में विधि-विधान का प्राप्त स्वरूप कितना प्रामाणिक और प्रासंगिक है?

विधि-विधान के वर्तमान स्वरूप पर यदि चिंतन करें तो विधि-विधान का जो स्वरूप एवं विस्तार वर्तमान में प्राप्त होता है उसे पूर्णतया प्रामाणिक नहीं कह सकते, क्योंकि काल के प्रभाव से उनमें कई परिवर्तन आए परन्तु उन क्रियाविधियों का मूल उत्स आगम सम्मत और उद्देश्यपूर्ण है। टीका साहित्य तथा परवर्ती साहित्य में इनका जो विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है वह भी गीतार्थ एवं आगमज्ञ मुनियों द्वारा निरूपित है अतः वे प्रामाणिक हैं और कई विधि-विधान जो कि अन्य परम्पराओं के प्रभाव से अथवा शिथिलाचरण के कारण अस्तित्व में आये तथा जिनका बहिष्कार नहीं हुआ, ऐसे कई लौकिक एवं लोक व्यवहार गत विधि-विधान भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए किए जाते हैं उनको अर्वाचीन परिस्थितियों का प्रभाव कह सकते हैं।

अब यदि विधि-विधानों की वर्तमान प्रासंगिकता पर विचार करें तो वर्तमान के आधुनिक व्यस्त जीवन में लोगों का धर्म, कर्म एवं अध्यात्म के प्रति रूझान कम हो रहा है, जिसका मुख्य कारण है भौतिक साधनों, सौन्दर्य प्रसाधनों एवं पाश्चात्य संस्कृति का गहराता प्रभाव। फिर भी निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाए तो कई कारणों से प्रासंगिक एवं प्रयोजनभूत प्रतीत होते हैं। जैसे कि गृहस्थ का आचार धर्म, तप विषयक आचार, षडावश्यक, श्रमणाचार, संलेखना-अनशन, प्रायश्चित्त स्वीकार आदि की साधना वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के संतुलन तथा शांतिपूर्ण जीवन के लिए आवश्यक है, क्योंकि इनका प्रभाव मात्र अध्यात्म जगत पर ही नहीं मानसिक एवं भौतिक जगत पर भी पड़ता है। इसी तरह वर्तमान समस्याओं के निराकरण में भी इनका उपयोग किया जा सकता है अतः जैन विधि-विधान प्रामाणिक एवं प्रासंगिक दोनों ही सिद्ध होते हैं।

जैन विधि-विधानों पर शोध की अर्थवत्ता

जैन धर्म मूलतः संन्यासमार्गी धर्म है। जैन साधना का मूल लक्ष्य आत्म विशुद्धि है। प्रत्येक आराधना में आत्मशुद्धि और आत्मोपलब्धि पर ही अधिक बल दिया गया है, किन्तु व्यवहार पक्ष भी नगण्य नहीं है। जन कल्याण और विश्व मंगल की भावना को भी यहाँ प्रमुखता दी गई है। वैयक्तिक साधना की दृष्टि से समाज निरपेक्ष एकाकी जीवन अधिक उपयुक्त माना गया है परन्तु साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही साथ उस साधना के द्वारा प्राप्त सिद्धियों को सामाजिक कल्याण के लिए उपयोग करने का भी निर्देश दिया गया है। भगवान महावीर का जीवन इस विधान का साक्षी है। 12 वर्षों तक एकाकी साधना करने के बाद वे पुनः समाज में लौट आये। चतुर्विध संघ की स्थापना की तथा जीवन पर्यंत उन्हें मार्गदर्शन देते रहे। यही तथ्य विधि-विधानों के विषय में भी लागू होता है। जैन विधि-विधानों का मुख्य सम्बन्ध तो वैयक्तिक जीवन से ही है लेकिन उसकी फलश्रुति हमारे सामाजिक जीवन को भी प्रभावित करती है।

वस्तुतः विधि-विधान साधना पक्ष के आवश्यक अंग हैं। कोई भी साधना विधि युक्त होने पर ही उसमें सफलता हासिल होती है। यह ध्यातव्य है कि जैन साधना पद्धति में वैयक्तिक कल्याण के साथ सामाजिक विकास को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है। कई साधनाएँ वैयक्तिक लाभ के उद्देश्य से न करके सामाजिक उत्थान हेतु भी की जाती है। उदाहरण के तौर पर जैन मुनि वैयक्तिक लाभ की दृष्टि से मन्त्र-यन्त्र की साधना नहीं कर सकता, किन्तु संघ हित के लिए इनका उपयोग कर सकते हैं। इससे यह सुसिद्ध है कि जैन विधि-विधानों का गुम्फन वैयक्तिक विकास की दृष्टि से ही नहीं सामाजिक एवं आध्यात्मिक उत्थान की अपेक्षा से भी हुआ है। इनका प्रमुख उद्देश्य नर से नारायण, जीव से शिव, आत्मा से परमात्मा की दिशा में अग्रसर होना है।

यदि हम जैन साहित्य का अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि जैन विधि-विधानों पर विपुल साहित्य का सर्जन जैनाचार्यों द्वारा किया गया है। किन्तु संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में रचित उन ग्रन्थों की विषय वस्तु से सामान्य जनता आज भी अपरिचित है। इन ग्रन्थों की वर्तमान संदर्भ में क्या आवश्यकता है एवं उन्हें कैसे जन उपयोगी बना सकते हैं? यह एक विचारणीय तथ्य है।

अब तक की शोध यात्रा के दौरान मुझे ऐसा प्रतीत हुआ है कि इन ग्रन्थों की सम्यक जानकारी विद्वद्वर्ग को भी अधिक नहीं है। इनका हिन्दी अनुवाद या इन पर शोध कार्य भी बहुत सीमित है। आचार-विचार प्रधान ग्रन्थों पर तो फिर भी शोध कार्य होते रहते हैं एवं लेखकों द्वारा भी इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है किन्तु तन्त्र, मन्त्र एवं कर्मकाण्ड सम्बन्धी साहित्य प्रायः उपेक्षित रहा। गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से इसका आदान-प्रदान अवश्य होता रहा है परन्तु कोई ठोस साहित्यिक कार्य दृष्टिगत नहीं होता। इसके कई कारण भी हैं। सर्वप्रथम विधि-विधान एवं तान्त्रिक साधनाएँ अनेक रहस्यों के घेरे में वेष्टित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। इन तान्त्रिक साधनाओं का दुरूपयोग न हो इस कारण गुरु केवल योग्य शिष्य को ही सब कुछ प्रदान करते थे। इसीलिए संभवत: विद्वद वर्ग भी इनसे अनभिज्ञ रहा। दूसरी बात यह है कि विधि-विधानों का क्षेत्र बहुत व्यापक है एवं इनमें पूर्वकाल से अब तक बहुत से परिवर्तन भी आए हैं। उन सबकों सम्यक रूप से समझने के लिए योग्य गुरु निश्रा एवं भिन्न-भिन्न समय में रही सामाजिक स्थिति का ज्ञान भी आवश्यक है।

तीसरा तथ्य यह है कि यह विधान योग्यता संपन्न आचार्यों या मुनियों के द्वारा ही अधिकांश रूप में संपन्न किए-करवाए जाते हैं। वर्तमान में इनकी लगाम पूर्ण रूपेण विधिकारकों के हाथ में जा चुकी है अत: सामान्य जनता हमेशा ही मात्र दर्शक या आराधक के रूप में इनसे जुड़ी रही।

यदि इस संदर्भ में हुए कार्यों पर दृष्टि दौड़ाएँ तो जहाँ तक मुझे जानकारी है तदनुसार जैन तंत्र, मंत्र की साधना एवं कर्मकाण्ड से सम्बन्धित कुछ कृतियों का प्रकाशन जरूर हुआ है किन्तु शोधपरक दृष्टि से इन पर अब तक कोई कार्य देखने में नहीं आया है। कुछ विशेष उपयोगी एवं सुप्रसिद्ध ग्रन्थों का हिन्दी एवं अंग्रेजी में अनुवाद भी हुआ है। परन्तु इनके ऐतिहासिक विकास क्रम एवं पारस्परिक प्रभाव आदि को उजागर करने के कार्य नहीवत ही हुए हैं। विवरणात्मक सूचना देने की दृष्टि से आचार्य हरिभद्र, आचार्य पादलिप्त, आचार्य जिनप्रभ, आचार्य वर्धमानसूरि आदि कुछ आचार्यों द्वारा रचित कर्मकाण्ड मूलक ग्रन्थ अनुदित एवं प्रकाशित हुए हैं। किन्तु उनका तुलनात्मक अध्ययन, उनमें आए परिवर्तन, उनकी मौलिकता एवं वर्तमान में उनका उपयोग आदि विषयक अध्ययन दृष्टिपथ में नहीं आता।

जैन विधि-विधानों एवं कर्मकाण्डों को विशेष रूप से बौद्ध एवं वैदिक परम्परा से प्रभावित माना जाता है। परंतु यह प्रभाव कब, कैसे, किस रूप में और कितनी मात्रा में आया? इसकी कोई ठोस जानकारी नहीं है। कुछेक विद्वानों द्वारा थोड़ी बहुत जानकारी यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है या फिर कुछ ग्रन्थों की भूमिका आदि के रूप में किंचिद उल्लेख प्राप्त होते हैं। जैन देवी-देवताओं में हिन्दू और बौद्ध देवी-देवताओं का प्रवेश कैसे और कब से हुआ? इस विषय में मात्र संकेतात्मक जानकारी ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार प्रतिष्ठा आदि मुख्य क्रियाकाण्डमूलक विधि-विधान भी अन्य परम्पराओं से प्रभावित हुए। कई बार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रभाव पड़ सकता है? आदि अनेक प्रासंगिक एवं विचारणीय तथ्य है।

इस शोध कार्य के माध्यम से इन विषयों पर विद्वद वर्ग का ध्यान केन्द्रित करने एवं सामर्थ्य अनुसार जिनशासन की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयास किया है। यद्यपि यह एक कठिन कार्य है परन्तु उपलब्ध साहित्य, शासन सम्राट जैनाचार्यों का मार्गदर्शन एवं मुनि भगवंतों के सहयोग से इस सिन्धु के कुछ बिन्दुओं को चिन्तन का विषय बना पाई हूँ।

जैन विधि विधानों का क्षेत्र महासागर के समान विस्तृत है उसमें यह कार्य मात्र बिन्दु रूप है। यदि यह कार्य विविध परिप्रेक्ष्यों में किया जाए तो वटवृक्ष की भाँति दीर्घ लाभ की परम्परा का सृजन हो सकता है? इस सन्दर्भित कई विषय ऐसे हैं जिनके विषय में यथोक्त जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाई। इसी के साथ साधु जीवन की मर्यादाएँ एवं जिम्मेदारियाँ तथा शोध की समय सीमा के कारण भी यह कार्य सीमित दायरे में ही हो पाया है। विद्वद वर्ग इस ओर अपना ध्यान केन्द्रित करें तो अवश्यमेव श्रुत सागर से और भी अविरल रत्नों को खोजकर निकाला जा सकता है। यदि विधि-विधान एवं कर्मकाण्ड के संबंध में तटस्थ दृष्टि से कार्य किया जाए तो अनेक सुपरिणाम सामने आ सकते हैं। विश्रृंखलित जैन समाज को एक सम्यक दिशा प्राप्त हो सकती है।

ज्ञातव्य है कि विधि-विधानों का दायरा विस्तृत है। कुछ विधान गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित हैं तो कुछ मुनि जीवन से। कुछ विधि-अनुष्ठानों में दोनों की ही प्रमुखता रही हुई है तो कुछ विधानों का गुंफन इस प्रकार किया गया है कि वे सामान्य जनता के लिए उपयोगी हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर इस शोध कार्य को मुख्य रूप से चार भागों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रथम भाग गृहस्थ वर्ग से सम्बन्धित है। जैन साधना का प्रारंभ गृहस्थ साधक से होता है। क्रिया अनुष्ठान के मार्ग पर आरूढ़ होकर गृहस्थ श्रावक साधना में प्रगति करता है इसलिए इनकी समुचित जानकारी होना सर्वप्रथम आवश्यक है। विधि-विधान संबंधी इस भाग में तीन खण्डों को समाहित करते हुए श्रावक जीवन की अथ से इति तक की समस्त चर्याओं का आगमोक्त आधार पर विविध परिप्रेक्ष्यों में अध्ययन किया गया है। श्रावक के नित्य आचार, दैनिक कर्त्तव्य, व्रत ग्रहण आदि विविध विषयों की चर्चा इसमें शोध परक दृष्टि से की गई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय भाग पूर्णरूपेण मुनि आचार का प्रतिपादन करता है। मुनि जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चर्याओं का वर्णन इसमें करने का प्रयास किया है। इस दूसरे भाग में पाँच खण्डों को समाविष्ट करते हुए मुनि जीवन के आचार-नियमों का आगमों से अब तक जो भी स्वरूप प्राप्त होता है एवं उनमें कौनसे परिवर्तन किन कारणों से हुए? इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। यह भाग नूतन दीक्षित मुनियों को मुनि जीवन के आचार एवं उनके हेतुओं से चिर परिचित करवाते हुए उनकी आचरण दृढ़ता में हेतुभूत बनेगा। श्रावक वर्ग को अपने कर्तव्यों के प्रति सचेष्ट करेगा। युवा पीढ़ी को मुनि जीवन की महत्ता से परिचित करवाएगा।

तीसरे भाग में कुछ ऐसे मुख्य विधानों की चर्चा की गई है जिनमें श्रावक एवं साधु वर्ग दोनों की ही प्रमुखता रहती है। इन विधानों को सम्पन्न करने हेतु दोनों का तालमेल होना आवश्यक है। प्रतिष्ठा, प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण आदि कुछ ऐसे अनुष्ठान हैं जो दोनों की उपस्थिति में सम्पन्न हो सकते हैं। इन विधानों को किस रूप में तथा किस प्रकार समाचारित करना चाहिए? पूर्व काल में इनका क्या स्वरूप था एवं वर्तमान में किस रूप में किए जाते हैं आदि की सम्यक चर्चा छह खण्डों के माध्यम से इस भाग में की गई है।

चतुर्थ भाग का विषय है मुद्रा। इस भाग को विश्वव्यापी बनाते हुए इसमें विभिन्न संप्रदायों में प्राप्त सहस्राधिक मुद्राओं की चर्चा की गई है। यह जैन धर्म की व्यापक मानसिकता एवं उदारता का परिचायक है। इसी के साथ अब तक प्राप्त मुद्राओं के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में उसके प्रभावों का विस्तृत निरुपण किया गया है।

इस तरह यह चार भाग कुल इक्कीस खण्डों में विभाजित हैं। इससे पाठक वर्ग प्रत्येक विषय का सम्यक रूप से अध्ययन कर सकेगा। सुस्पष्ट है कि प्रथम भाग को तीन खण्डों में, द्वितीय भाग को पाँच खण्डों में, तृतीय भाग को छः खण्डों में एवं चतुर्थ भाग को सात खण्डों में उपविभाजित किया है।

इस खण्ड विभाजन का मुख्य उद्देश्य विविध विषयों को पृथक रूप से स्पष्ट करना है। प्रत्येक विषय का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उस पर स्वतंत्र शोध कार्य किया जा सकता है। इसी अपेक्षा से उनका यथा संभव स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया। It was an Golden Era for Jain scriptures परवर्ती काल में भी कई आचार्यों एवं मुनि भगवन्तों ने इस संबंध में कार्य किए है अत: विधि-विधान सम्बन्धी मौलिक साहित्य हमें उपलब्ध हो जाता है। इस तरह आगमयुग से अब तक जैन विधि-विधानों के संदर्भ में सहस्राधिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। कुछ ग्रन्थ किसी विशिष्ट विषय का प्रतिपादन करते हैं तो कुछ ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न विषयों का एक साथ प्रतिपादन मिलता है।

जैन वाङ्मय में विधि-विधानों का स्वरूप– जैन धर्म का विधि-विधान सम्बन्धी इतिहास साहित्यिक दृष्टि से अत्यंत मौलिक है। गृहस्थ एवं साधु दोनों ही वर्गों से सम्बन्धित कई विधि-विधान मूल रूप में भी देखने को मिलते हैं।

यदि प्राचीनतम आगमों का अध्ययन करें तो विधि-विधानों का प्रारंभिक स्वतंत्र उल्लेख आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौवें अध्ययन में मिलता है। यहाँ पर भगवान महावीर की ध्यान एवं तप साधना की पद्धति का उल्लेख है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थों में भी मुनि जीवन सम्बन्धी विधि-विधानों का निर्देश है। उत्तराध्ययन एवं अन्तकृतदशा में विविध तप विधियों का निरुपण है।

गृहस्थ उपासना का मुख्य वर्णन उपासकदशांगसूत्र में प्राप्त होता है। भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथासूत्र, राजप्रश्नीयसूत्र, कल्पसूत्र आदि आगम शास्त्र भी गृहस्थ वर्ग के विधि-विधानों का वर्णन करते हैं।

वस्तुत: आगम साहित्य में समायोजित छेद सूत्र विधि-विधानों के संदर्भ में आधारभूत ग्रंथ हैं। निर्युक्ति साहित्य में भी विधि-विधानों का विस्तृत उल्लेख है। मध्यकाल में इस विषय पर व्यापक कार्य हुआ। श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य हरिभद्रसूरि, पादलिप्तसूरि, जिनप्रभसूरि, वर्धमानसूरि, जिनवल्लभ गणि आदि अनेक विद्वद मुनियों ने एवं दिगम्बर परम्परा के आचार्य वट्टेकर, वसुनन्दी, आशाधर, सिंहनन्दी आदि धुरन्धर आचार्यों ने विधि-विधान के संदर्भ में ऐतिहासिक कार्य किया। इसी के साथ जैन अवधारणा में कौन-कौन से विधि-विधान किस स्वरूप में एवं किन परम्पराओं से आकर जुड़े? उनमें किस क्रम से परिवर्तन आए? परिवर्तन का मुख्य आधार क्या रहा? इन विषयों पर शोधपरक वर्णन भी इन साहित्यिक रचनाओं में सहज रूप से प्राप्त हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विधि-विधान सम्बन्धी साहित्य पर शोध की उपयोगिता– किसी भी विषय को पूर्ण रूप से समझने के लिए तद्विषयक सम्यक जानकारी होना आवश्यक है। विषय का इतिहास, उसका वर्तमान स्वरूप, काल क्रम में आए बदलाव एवं उनके कारण आदि ज्ञात होने पर हम उसके सही स्वरूप को समझ सकते हैं।

क्रिया-अनुष्ठानों में आगमकाल से अब तक अनेक परिवर्तन आए। इन परिवर्तनों का मूल साक्षी एवं सूत्रधार है जैन साहित्यिक रचनाएँ। इन रचनाओं का काल क्रम के अनुसार अध्ययन किया जाए तो किसी विषय का सर्वांगीण ज्ञान किया जा सकता है। परंतु यह अध्ययन तभी संभव है जब उस विषयक सम्पूर्ण जानकारी हो। जैन विधि-विधानों एवं ग्रन्थों की एक लम्बी सूची है। कौनसा विधान कहाँ प्राप्त होगा? उसका मूल स्वरूप क्या है? आदि की जानकारी प्राप्त करना ही शोध का प्रथम कठिन चरण हो जाता है। यही दिक्कत सर्वप्रथम इस शोध कार्य को प्रारंभ करते समय मेरे समक्ष भी उपस्थित हुई। आखिर किस विधि का प्रारंभिक स्वरूप किस ग्रंथ में है? उसका विकसित स्वरूप कहाँ पर प्राप्त होगा? आदि अनेक जटिल प्रश्न थे अत: सर्वप्रथम इन ग्रन्थों का ऐतिहासिक विकास क्रम एवं विभागीकरण आवश्यक था। प्रथम खण्ड का लेखन इसी कारण किया गया है।

तदनुसार इस खण्ड में विधि-विधान सम्बन्धी मुख्य विषयों को विभाजित करते हुए तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का क्रमिक उल्लेख एवं सारगर्भित परिचय दिया गया है।

प्रस्तुत कृति की विशेषता– • विद्वदवर्ग की अपेक्षा से इस कृति में विधि-विधान सम्बन्धी सारभूत ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।

• शोधार्थियों की सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए विधि-विधान परक साहित्य को विषयवार वर्गीकृत किया गया है। पाठक वर्ग की सुलभता हेतु वैधानिक ग्रन्थ अकारादि सूची क्रम से प्रस्तुत किए गए हैं।

• ग्रन्थों की प्राचीनता एवं मौलिकता दर्शाने हेतु प्रत्येक कृति का रचना काल एवं रचयिता का भी परिचय दिया गया है। जहाँ रचना काल का निश्चित्त उल्लेख नहीं मिल पाया है वहाँ भाषा शैली और विषय वस्तु के आधार पर अनुमानित काल का निर्धारण किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय वस्तु का संक्षिप्त एवं सारभूत वर्णन किया है। इस अध्याय में किया गया वर्णन व्रत ग्रहण सम्बन्धी साहित्य के आलोडन में सहायक बनेगा यही अभ्यर्थना है।

इस खण्ड का **सातवाँ अध्याय** समाधिमरण सम्बन्धी साहित्य सूची को प्रस्तुत करता है। साधना का अंतिम चरण समाधि युक्त अवस्था में मृत्यु की प्राप्ति है। जैन ग्रन्थकारों ने इस विषय पर कई रचनाएँ की है। इस अध्याय में समाधिमरण सम्बन्धी 31 मौलिक ग्रन्थों की तात्त्विक चर्चा की गई है।

प्रायश्चित्त दोष विमुक्ति का अनुपम साधन है। हर धर्म परम्परा में इस विषयक कोई न कोई मार्ग अवश्य बताया गया है। जैन ग्रन्थकारों ने प्रायश्चित्त ग्रहण को रहस्यमयी एवं अद्भुत प्रक्रिया माना है। इसका उल्लेख प्राय: हर सदी के आचार्यों ने किया है। ऐसे ही कुछ प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक 47 ग्रन्थों का शोधपरक वर्णन इस **आठवें अध्याय** में किया गया है। यह विवरण आत्मशुद्धि के मार्ग पर आरूढ़ साधकों एवं पाप विशोधक भव्य जीवों के लिए लक्ष्य प्राप्ति में माईल स्टोन साबित होगा।

नौवें अध्याय में वर्णित विषय साधना के मुख्य आधार है। इसके संयोग से ही विधि-विधानों में पूर्णता एवं सफलता प्राप्त होती है। इस अध्याय में योग, मुद्रा एवं ध्यान सम्बन्धी विधि विधान परक साहित्य की सूची प्रस्तुत की गई है। जैन साहित्य परम्परा में यूं तो अनेक ग्रन्थ इस संदर्भ में प्राप्त होते हैं। परंतु प्रस्तुत अध्याय में मुख्य 27 ग्रन्थों की विस्तृत चर्चा की गई है। जिसके द्वारा साधक वर्ग उन कृतियों की विषय वस्तु, रचयिता एवं रचनाकाल आदि से परिचित हो पाएंगे।

दसवें अध्याय का विषय है पूजा एवं प्रतिष्ठा सम्बन्धी विधि-विधान मूलक साहित्य सूची। पूजा-प्रतिष्ठा यह क्रियाकांड मूलक विधानों में विधि-विधानों की आत्मा है। सर्वाधिक विधि-विधानों का उल्लेख इसी कार्य के लिए किया गया है। जैन साहित्यकारों ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्रस्तुत विषय पर शताधिक ग्रन्थों की संरचना की। इस अध्याय में पूजा सम्बन्धी 133 एवं प्रतिष्ठा विषयक 42 प्रमुख ग्रन्थों की स्वतंत्र चर्चा की गई है।

इस चर्चा का ध्येय पूजा-प्रतिष्ठा आदि भक्ति विधानों की सूक्ष्मता एवं यथार्थता से परिचित करवाना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंत्र, तंत्र, विद्या सम्बन्धी विधि-विधानों की साहित्य सूची एवं तत्सम्बन्धी 84 ग्रन्थों का सारगर्भित विवरण **ग्यारहवें अध्याय** में प्रस्तुत किया गया है। मंत्र-तंत्र विधि-विधानों के हृदय के समान हैं। जैनाचार्यों ने इसी महत्ता को वर्धित करने, मंत्र-तंत्र आदि की साधना को सशक्त करने एवं विशिष्ट मंत्र-तंत्रों को चिरंजीवी रखने के उद्देश्य से अनेक बृहद ग्रन्थों की रचनाएँ की। उन्हीं ग्रन्थों का विशदता से परिचय करवाना इस अध्याय का ध्येय है।

इस साहित्यिक खण्ड का **बारहवाँ अध्याय** ज्योतिष, निमित्त एवं शकुन शास्त्र से सम्बन्धित है। विविध अनुष्ठान परक क्रिया अनुष्ठानों में मुहूर्त आदि का विचार प्रमुख रूप से किया जाता है। शकुन आदि का ध्यान तो प्रत्येक मांगलिक एवं साधना मूलक कार्यों में रखा ही जाता है। आगम शास्त्रों में भी इस विषयक उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलते हैं। यद्यपि जैन साधना निवृत्ति मूलक आध्यात्मिक साधना है परंतु ज्योतिष, निमित्त, शकुन आदि भी अपना महत्त्व रखते हैं। उपांग सूत्रों से लेकर अब तक सैकड़ों ग्रन्थों में इसकी चर्चा की गई है। इस अध्याय में तद्विषयाधारित 90 प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों की चर्चा की गई है। जैन ज्योतिष शास्त्र के विकास में इन कृतियों का उल्लेख अवश्य सहयोगी बनेगा।

जैन साहित्य के संवर्धन में जैनाचार्यों का विशेष सहयोग रहा। विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थों में जहाँ कई विषयों का प्रतिपादन स्वतंत्र ग्रन्थों में किया गया है वहीं कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनमें विविध विधानों का एक साथ उल्लेख है। कुछ ऐसे विधान भी हैं जो अब तक वर्णित विधानों से अलग है परन्तु क्रिया अनुष्ठानों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिन दर्शन, नव्वाणु यात्रा, पर्युषण आराधना एवं अनेक अध्यात्म मूलक विधि-विधानों की चर्चा यत्र-तत्र पुस्तकों में प्राप्त होती है। उन सभी की चर्चा अन्तिम तेरहवें अध्याय में की है।

तेरहवाँ अध्याय विविध विषय सम्बन्धी विधि-विधान परक साहित्य सूची का वर्णन करता है। इस अध्याय में 38 ऐसे ग्रन्थों की विषय वस्तु निरूपित की गई है जिनके माध्यम से अनेक मौलिक विषयों का ज्ञान स्पष्ट होता है। विविध सामाचारी ग्रन्थों का उल्लेख भी इसी अध्याय में किया गया है।

इस प्रकार तेरह अध्यायों में विभाजित यह प्रथम खण्ड जैन साहित्य की विविधता एवं वैभिन्यता को दर्शाता है। विधि-विधान आराधना का एक मुख्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थामा जा सकता है? इसका समाधान ऋषि मुनियों द्वारा बताया गया प्राकृतिक विज्ञान है। मानव मन को निर्मल, सुसंस्कृत एवं सन्तुलित करने की प्रक्रिया है- संस्कार कर्म। यह मनुष्य जीवन को सशक्त एवं प्राणवान बनाती है।

मानव सभ्यता में संस्कार कर्म का प्रारम्भ अलौकिक शक्तियों के दुष्प्रभावों का शमन करने के लिए हुआ था। आम जनता में यह विश्वास था कि संस्कारों के द्वारा अमंगल का निराकरण और मंगल की प्राप्ति होती है। अनेक नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक प्रयोजन भी इसके पीछे अन्तर्भूत हैं। विज्ञान के द्वारा DNA का जो सिद्धान्त सिद्ध किया गया है, संस्कार कर्म उसी की प्रक्रिया है। गर्भ में आने के साथ ही बच्चे को अपने परिवार के अनुसार ढालना संस्कार विधान का मुख्य ध्येय है। आज इसके प्रति बढ़ता उपेक्षा भाव ही संस्कारों एवं संस्कृति के उच्चाटन का प्रमुख कारण है।

मानव समाज में संस्कारों का महत्त्व– संस्कारों का महत्त्व बतलाते हुए वैदिक ग्रन्थों में कहा गया है "जन्मना जायते शुद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते" अर्थात मनुष्य जन्म से द्विज नहीं होता वह संस्कारों के द्वारा द्विज बनता है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य जन्म से तो पशु या पामर रूप ही होता है किन्तु संस्कारों के बाद से वह सुसंस्कारी मनुष्य बनता है। संस्कार एक पॉलिश है। यह बाहरी चमक को नहीं अपितु आंतरिक शुद्धि को बढ़ाता है। मानव का रहन-सहन सब कुछ विकसित हो जाता है।

संस्कार आरोपण का उद्देश्य– संस्कार मानव जीवन को परिष्कृत करने की विधि विशेष है। विधि पूर्वक संस्कारों के अनुष्ठान द्वारा व्यक्ति में शम-दम आदि गुणों का विकास होता है।

गर्भाधान, जातकर्म, अन्नप्राशन आदि संस्कारों के द्वारा दोषमार्जन, उपनयन, ब्रह्मव्रत आदि संस्कारों से अतिशयाधान एवं विवाह, अग्न्याधान आदि के द्वारा हमारे जीवन की हीनांग पूर्ति होती है। इस प्रकार संस्कारों की अनेक विधियों द्वारा मानव अपने लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ होता है।

संस्कार आरोपण के कुछ उद्देश्य निम्नोक्त हैं-

• प्रतिकूल प्रभावों की परिसमाप्ति करना। • अभिलषित प्रभावों को आकृष्ट करना। • शक्ति समृद्धि, बुद्धि आदि की प्राप्ति करना। • जीवन में होने वाले सुख-दुख की इच्छाओं को व्यक्त करना। • गर्भ एवं बीज सम्बन्धी दोषों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को दूर करना। • धार्मिक क्रिया-कलापों का विशेष अधिकार प्राप्त करना जैसे- उपनयन संस्कार से वेदाध्ययन एवं धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान का अधिकार प्राप्त होता है। • पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति करना। • व्यक्तित्व निर्माण करना। • चारित्रिक विकास करना। • समस्त शारीरिक क्रियाओं को आध्यात्मिक लक्ष्य से परिपूरित करना।

निष्कर्षत: संस्कारों के आरोपण का उद्देश्य महान एवं सर्वोत्तम है। इन संस्कारों के पीछे इहलौकिक या भौतिक सुख की कोई कामना नहीं होती। किसी प्रकार का कोई स्वार्थ भी निहित नहीं होता। जीवन यात्रा में प्रगति पथ पर बढ़ने हेतु सद्गुणों का आविर्भाव करना तथा उनका सदाचरण करते हुए जीवन को आदर्शमय बनाना ही इसका मूलभूत उद्देश्य है।

सोलह संस्कारों के अध्ययन पर आधारित यह द्वितीय खण्ड सतरह अध्यायों में उपविभाजित हैं।

मानव एवं संस्कारों का सम्बन्ध आदिकाल से रहा हुआ है। मानव में मानवीय गुणों का आरोपण संस्कारों के द्वारा ही किया जाता है। अत: **प्रथम अध्याय** में संस्कार और उनकी अर्थवत्ता का विवेचन किया गया है। इसी के साथ विविध संदर्भों में संस्कारों की उपयोगिता एवं प्रयोजन बताए गए हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संस्कारों की प्रासंगिकता एवं उनकी आवश्यकता को दिग्दर्शित करते हुए वैज्ञानिक दृष्टि से उनकी सकारात्मकता तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में उसकी उपादेयता को भी स्पष्ट किया है।

इस खण्ड का **दूसरा अध्याय** सोलह संस्कारों में से प्रथम गर्भाधान संस्कार को विवेचित करता है।

गर्भाधान संस्कार से तात्पर्य है गर्भ स्थापना करने सम्बन्धी विधि-विधान। इस संस्कार के द्वारा वीर्य एवं गर्भ सम्बन्धी दोषों को दूर किया जाता है। यह संस्कार मात्र बालक प्राप्ति का संस्कार नहीं अपितु सुयोग्य बालक की नींव रखने का संस्कार है। इस अध्याय में वर्णित गर्भाधान संस्कार का अर्थ, उसके अधिकारी, उसकी आवश्यकता, आदि आम जनता को गर्भाधान संस्कार से परिचित करवाती है।

यह अध्याय गर्भवती माताओं के मन में सात्त्विक, नैतिक एवं पवित्र विचारों का स्फुरण करते हुए एक सुसंस्कृत भावी पीढ़ी के निर्माण में सहायक बनेगा यही अभिलाषा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षोडश संस्कारों में पुंसवन संस्कार का दूसरा स्थान है। पुत्र संतान की प्राप्ति के लिए यह संस्कार गर्भवती महिला पर किया जाता है। भारतीय संस्कृति पुरुष प्रधान रही है अत: यहाँ पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा प्रत्येक परिवार एवं माता द्वारा की जाती हैं। यह संस्कार मुख्य रूप से असमय में गर्भ स्खलन को रोकने तथा बालक एवं गर्भवती माता की मंगल प्रार्थना निमित्त किया जाता है।

तृतीय अध्याय में पुंसवन संस्कार की आवश्यकता को पुष्ट करते हुए उसके प्रयोजन एवं लाभ आदि बताए गए हैं। यह संस्कार किन सावधानियाँ के साथ एवं किस विधि से किया जाना चाहिए इसका प्रामाणिक एवं तुलनात्मक विवरण भी किया गया है।

इस अध्याय का मुख्य ध्येय गर्भस्थ बालक को पुरुषार्थी एवं बलवान बनाना है।

चौथा अध्याय जातकर्म संस्कार विधि से सम्बन्धित है। जातकर्म अर्थात शिशु जन्म के समय पर किए जाने वाले मुख्य विधि-विधान। बालक का जन्म होने के साथ ही यह संस्कार माता एवं नवजात शिशु की रक्षार्थ किया जाता है। बालक का जन्म सर्वत्र आनंद का अवसर माना जाता है। कई बार कुंडली निर्माण आदि ज्योतिष कार्यों को इतना महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता परंतु इनका प्रभाव एवं महत्व नि:शंक रूप से मान्य है। वर्तमान की इसी विचारधारा को ध्यान में रखकर इस अध्याय में शिशु जन्म के समय करने योग्य विधानों का विस्तृत उल्लेख किया गया है। वर्तमान में लुप्त हो रहे संस्कारों को पुनर्जीवित करने के लिए यह अध्याय अवश्य सहयोगी बनेगा यही कामना है।

जैन विधि-विधानों के अन्तर्गत द्वितीय खण्ड का **पाँचवां अध्याय** सूर्य-चंद्र दर्शन की संस्कार विधि का विवेचन करता है।

इस संस्कार के माध्यम से नवजात शिशु को बाहर की दुनिया एवं वातावरण में ले जाने से पूर्व उसे प्राकृतिक ऊर्जा दी जाती है। सूर्य और चंद्र प्रकृति के दो मुख्य तत्त्व हैं। जीवन का सम्पूर्ण विकास इन्हीं पर आधारित है। इनसे नि:सृत रोशनी अनेक सकारात्मक ऊर्जाओं से युक्त होती है। इन्हीं प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक तथ्यों के विवरण के साथ इस अध्याय में सूर्य-चन्द्र दर्शन की आवश्यकता, उद्भव एवं विकास, संस्कार करने योग्य मुहूर्त आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विविध चर्चाएँ की गई है। इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन शिशु को बाह्य जगत से परिचित करवाना तथा सुषुप्त शक्तियों को जागृत करना है।

भारतीय संस्कृति उच्च आदर्शयुक्त संस्कृति है। इस संस्कृति में प्रत्येक मानव को सुसंस्कृत बनाने हेतु कई प्रकार के विधि-विधान प्रचलित हैं। शिशु को प्रथम बार स्तनपान करवाना एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। माता के भीतर रही हुई ममता एवं संस्कारों का पान स्तनपान के माध्यम से करवाया जाता है। वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनों ही परिप्रेक्ष्य में इसकी नितांत उपयोगिता रही हुई है।

छठें अध्याय में क्षीराशन संस्कार की इसी महत्ता, त्रैकालिक आवश्यकता, तदहेतु उपयुक्त काल एवं प्रयोजन आदि के वर्णन के साथ अन्य परम्पराओं से इसका तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। यह वर्णन शास्त्रोक्त विधियों के आचरण द्वारा बालकों को सुसंस्कृत बनाने में हेतुभूत बने यही प्रयास इस अध्याय के माध्यम से किया गया है।

सातवाँ अध्याय षष्ठी संस्कार विधि से सम्बन्धित है। बालक जन्म के छठवें दिन किए जाने से एवं देवी-माताओं की पूजा करने से यह संस्कार षष्ठी संस्कार कहलाता है। नवजात शिशु को अनिष्टकारी उपद्रवों से बचाने एवं आसुरी शक्तियों का आक्रमण रोकने के लिए इस संस्कार का विधान किया जाता है।

इस शोध कृति के **आठवें अध्याय** का नाम शुचिकर्म संस्कार विधि है। शुचि अर्थात शुद्धि। यह संस्कार दैहिक शुद्धि, स्थान शुद्धि एवं वातावरण शुद्धि हेतु किया जाता है। इस संस्कार के द्वारा प्रसूता नारी, प्रसूत बालक एवं प्रसव स्थल इन तीनों की शुद्धि की जाती है। अशुचि निवारण करने से मन, मस्तिष्क एवं चित्त आनन्दित हो जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से इस संस्कार के द्वारा माता एवं शिशु अनेक संक्रामक रोगों से बचे रहते हैं। इसी के साथ यह अध्याय इस संस्कार के संपादन हेतु आवश्यक समस्त जानकारी का भी प्रतिपादन करता है।

नामकरण संस्कार विधि को **नौवें अध्याय** के रूप में प्रतिपादित किया गया है। भारतीय संस्कृति में पूर्व काल से ही नामकरण का विधान देखा जाता है। इस संस्कार के माध्यम से नवजात शिशु को पहचान दी जाती है तथा परिचित एवं ज्ञातिजनों को उसके नाम से परिचित करवाया जाता है।

यह अध्याय नामकरण संस्कार की महत्ता, उपादेयता, प्रयोजन एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्सम्बन्धी विधि-विधानों से परिचित होने के लिए एक सहयोगी चरण रूप है।

पूर्व काल से आर्य सभ्यता में अन्न को देव रूप माना गया है। बालक को प्रथम बार अन्न खिलाना एक महत्वपूर्ण विधान है और यही विधान अन्नप्राशन संस्कार विधि के नाम से जाना जाता है। **दसवें अध्याय** में इसी संस्कार का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस संस्कार के द्वारा शारीरिक आरोग्यता, चैतसिक निर्मलता एवं वैचारिक पवित्रता प्राप्त होती है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इस विधि के प्रयोजन एवं हेतुओं की समीक्षा तथा अन्य परम्पराओं के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन इस अध्याय की मौलिकता को और अधिक बढ़ाता है।

ग्यारहवाँ अध्याय कर्ण वेध संस्कार विधि से सम्बन्धित है। कर्ण वेध का अर्थ है कर्ण छेदन करवाना। प्राचीन भारतीय सभ्यता में पुरुषों द्वारा कर्ण छेदन करवाने की परम्परा देखी जाती है। यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जो शरीर और मन को स्वस्थ रखने में सहायक बनती है। क्षेत्रे को अप्रमत्त केन्द्र माना जाता है एवं कर्ण छेदन करने से प्रमाद अवस्था दूर होती है। वर्णित अध्याय में इस संस्कार के आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक प्रयोजन स्पष्ट किए हैं। कर्णवेध संस्कार की आवश्यकता क्यों है? यह संस्कार कब, किसके द्वारा, किस विधि से करवाया जाए? आदि की चर्चा भी इस अध्याय में की गई है।

बारहवें अध्याय में चूड़ाकरण संस्कार विधि कही गई है। चूड़ाकरण का अर्थ है सिर के बालों का मुण्डन या झडोला उतारना। राजप्रश्नीय एवं प्रश्नव्याकरण आदि आगमों में इस संस्कार का उल्लेख चौल कर्म के नाम से प्राप्त होता है। आज भी अनेक परम्पराओं में बालक के केश कुल देवी आदि के स्थान पर जाकर उतारे जाते हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार इस संस्कार के द्वारा दीर्घायु प्राप्त होती है। जन्म-जन्मान्तरों की पाशविक वृत्तियाँ दूर होती हैं, विचार संस्थान प्रभावित होता है तथा दैहिक स्वस्थता प्राप्त होती है।

यह अध्याय चूड़ाकरण संस्कार के उचित सम्पादन के लिए सम्पूर्ण दिशा-निर्देश देता है। इसमें वर्णित प्रयोजन, आवश्यकता आदि के रहस्यभूत तथ्य इस संस्कार को और भी अधिक प्राणवान बनाते हैं।

तेरहवाँ अध्याय उपनयन संस्कार विधि से सम्बन्धित है। उपनयन वह संस्कार है जिसके द्वारा बालक को ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु के निकट ले जाया जाता है। विविध भारतीय परम्पराओं में इसका समतुल्य महत्व देखा जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेक परम्पराओं में इस संस्कार के समय उपवीत (जनेऊ) भी धारण करवाया जाता है।

पूर्व काल में अध्ययन हेतु बच्चों को गुरु कुल में भेजा जाता था। यह संस्कार बालक के अध्ययन योग्य होने का सूचक है। वर्तमान में 2-3 साल के बच्चों को स्कूल भेजने की परम्परा उसके मानसिक विकास में अवरोध पैदा करती है। उनकी बाल सुलभ चेष्टाओं एवं बचपन को समाप्त कर देती हैं।

इस अध्याय में उपनयन संस्कार की प्राचीनता आदि अनेक विषयों पर चर्चा की गई है। विविध परम्पराओं में इसका स्वरूप एवं विधान भी बताया गया है। बालकों के सर्वांगीण एवं समुचित विकास के लिए यह अध्याय महत्त्वपूर्ण दिशा सूचक है।

चौदहवें अध्याय में चर्चित विद्यारम्भ संस्कार विधि उपनयन संस्कार को अधिक पुष्ट करती हैं। उपनयन संस्कार द्वारा बालक को गुरुकुल में ले जाया जाता है वहीं विद्यारम्भ संस्कार द्वारा विद्याध्ययन का प्रारंभ करवाया जाता है। जैन धर्म में इस संस्कार की प्राचीनता भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथासूत्र, कल्पसूत्र आदि आगमों में प्राप्त उल्लेखों से सुसिद्ध हो जाती है।

विद्या विहीन मनुष्य को पशु तुल्य माना गया है। इस संस्कार के द्वारा मनुष्य को ज्ञानवान बनाने का अभ्यास प्रारंभ किया जाता है। इस अध्याय में विद्यारम्भ सम्बन्धी उचित काल, सामग्री, अधिकारी आदि का निर्देश देते हुए तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय का मुख्य लक्ष्य उचित अध्ययन विधि का सम्पादन एवं मनुष्य में मनुष्यत्व का विकास करना है।

विवाह संस्कार गृहस्थ जीवन का एक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक संस्कार है। इस संस्कार के बाद ही गृहस्थ की पारिवारिक जिंदगी का प्रारंभ होता है। भारतीय संस्कृति में इस संस्कार को अत्यंत सम्माननीय स्थान प्राप्त है।

पंद्रहवें अध्याय में विवाह संस्कार विधि का निरूपण किया है। विवाह दो आत्माओं का पवित्र सम्बन्ध है। आधुनिक युग में इसे विषय भोग का वैधानिक प्रमाण पत्र (licence) माना जाता है परन्तु इसकी तात्त्विकता इससे बहुत ऊपर उठी हुई है।

इस अध्याय में विवाह संस्कार विधि सम्बन्धी आवश्यक पहलुओं की चर्चा की गई है। विविध परिप्रेक्ष्यों में इसके महत्त्व एवं प्रयोजन की चर्चा भी इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्याय में की गई है।

इस अध्याय का मुख्य हेतु आज के समाज में वैवाहिक जीवन की मौलिकता को बढ़ते हुए एवं जैन विवाह विधि से जन सामान्य को परिचित करवाना है।

सोलहवाँ अध्याय व्रतारोपण संस्कार विधि से सम्बन्धित है। इस संस्कार के माध्यम से गृहस्थ को मर्यादायुक्त, संतोषी जीवन जीने हेतु प्रेरित किया जाता है। साधना पक्ष पर आगे बढ़ने के लिए अनेक प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख जैन साहित्य में प्राप्त होता है। इस संस्कार के द्वारा गृहस्थ वर्ग व्रतों को ग्रहण कर एक सच्चे श्रावक के रूप में अपना जीवन यापन करता है।

इस संस्कार का सुविस्तृत वर्णन खण्ड-3 में किया गया है।

मानव जीवन की पूर्णता एवं समाप्ति की सूचक है अंतिम संस्कार विधि। इस संस्कार के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जीवन सम्बन्धी संस्कारों में यह अंतिम संस्कार है। यहाँ पर पहुँचने के बाद मनुष्य जीवन की लीला समाप्त हो जाती है। बोध जनित वैराग्य उत्पन्न करने में इस संस्कार का मुख्य स्थान रहा है।

सत्रहवें अध्याय में अंतिम संस्कार विधि का अर्थ एवं आवश्यकता आदि बताते हुए इस विषयक अनेक पक्षों को उजागर किया है। इस अध्याय में अंतिम आराधना विधि, विचार आदि के विषय में भी सार गर्भित चर्चा की गई है।

संस्कार यह जीवन निर्माण की मूल नींव है। इन्हीं संस्कारों के आधार पर पशु तुल्य जन्में बालक को मानव एवं महामानव बनाया जा सकता है। प्रस्तुत खण्ड में मानव जीवन योग्य सोलह संस्कारों का किया गया वर्णन आध्यात्मिक मूल्यवत्ता के साथ वैज्ञानिक समीचीनता भी रखता है। इसके द्वारा परम्परागत संस्कार विधि से जैन समाज परिचित हो पाए एवं भावी पीढ़ी में सुसंस्कारों का बीजारोपण कर पाएँ यही अंतरंग इच्छा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खण्ड-3

जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों का प्रासंगिक अनुशीलन

व्यक्तित्व विकास एवं अध्यात्मिक उत्थान के लिए साधना और उपासना दो महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं। साधना बीजारोपण है और उपासना बीज को खाद-पानी देने से लेकर उसके विकास के लिए समग्र व्यवस्था जुटाना है। भारतीय संस्कृति में इस शरीर को धर्म आराधना का प्रमुख साधन माना गया है। कहा भी गया है– **''शरीर माद्यं खलु धर्मसाधनम्।''**

जैन दर्शन में जीव का परम लक्ष्य आत्मोपलब्धि एवं परमात्म तत्त्व की प्राप्ति है। श्रमण साधना इस लक्ष्य प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण मार्ग है। परंतु जो लोग श्रमण जीवन स्वीकार नहीं कर सकते उनके लिए गृहस्थ जीवन में रहते हुए ही किस प्रकार अपने आपको जागृत, सीमित एवं मर्यादित रखा जाए इसका पूर्ण निर्देशन भी जैन आचार ग्रन्थों में प्राप्त होता है। भगवान महावीर ने चतुर्विध संघ की स्थापना करते हुए उसमें साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका इन चारों को स्थान दिया। श्रुत साहित्य में श्रमण जीवन एवं उनकी चर्या विधि को जितनी महत्ता दी गई है उतनी मूल्यवत्ता श्रावक जीवन को नहीं दी गई, क्योंकि जीवन का मुख्य ध्येय श्रमण जीवन की ही प्राप्ति है। दूसरा उसमें किसी प्रकार का अपवाद मार्ग नहीं है। इसी सर्वोच्चता एवं कठोरता के आधार पर इनका नियमन भी किया गया है। परंतु जैसे धर्मीजनों के अभाव में धर्म-कर्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार श्रावक-श्राविकाओं के अभाव में मुनियों की ध्यान-योग साधना सिद्ध नहीं होती।

एक सद्गृहस्थ श्रावक का आचरण कैसा हो? इसकी विस्तृत चर्चा यद्यपि जैनागमों में प्राप्त नहीं है फिर भी उपासकदशासूत्र, स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथासूत्र, अन्तकृतदशासूत्र, विपाकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र आदि आगमों में उल्लेखित व्रत एवं प्रतिमाओं का वर्णन उस युग में भी श्रावक जीवन की महत्ता एवं मर्यादायुत जीवन को दर्शाता है।

जैन परम्परा में गृहस्थ साधक को 'श्रावक' की संज्ञा दी गई है। जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनधर्म एवं जिनवचनों के प्रति श्रद्धा, विवेक एवं क्रिया से युक्त हो वह श्रावक कहलाता है। गृहस्थ श्रावक को उपासक, श्रावक, देशविरत, आगारी आदि अनेक नामों से जाना जाता है।

श्रावक कौन? जैन टीका साहित्य के अनुसार जो सम्यग्दृष्टि है, अणुव्रती है, उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिए जिनवाणी का श्रवण करता है वही श्रावक है।

जैन धर्म में गृहस्थ साधना का महत्त्व– जैन दर्शन में सिद्ध अवस्था प्राप्ति के पन्द्रह प्रकार निर्दिष्ट है। गृहस्थलिंग सिद्ध उसी का एक प्रकार है। यह सत्य है कि श्रमण साधना की अपेक्षा गृहस्थ जीवन की साधना निम्न कोटि की होती है। तदुपरान्त कुछ गृहस्थ साधकों को श्रमण साधकों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। श्वेताम्बर कथा साहित्य में माता मरुदेवी द्वारा गृहस्थ जीवन में मोक्ष प्राप्त करने तथा भरत द्वारा श्रृंगार भवन में कैवल्य प्राप्त करने की घटनाएँ गृहस्थ जीवन में भी भावना के उत्कर्ष तक पहुँचने की सूचक है।

जैन विचारणा में आंशिक निवृत्तिमय जीवन को भी सम्यक एवं मोक्ष मार्ग में सहायक माना गया है। इसी से गृहस्थ साधना का महत्त्व परिलक्षित हो जाता है।

गृहस्थ साधक के विभिन्न स्तर– गृहस्थ साधना अनेक अपवादों से युक्त साधना है। व्रतों एवं भावों की तरतमता के आधार पर उनकी साधना में स्तर भेद होता है। गुणस्थान सिद्धान्त के आधार पर सम्यग्दृष्टि श्रावक के मुख्य दो भेद होते हैं– 1. अविरत सम्यग्दृष्टि और 2. देशविरत सम्यग्दृष्टि। प्रथम कोटि के श्रावक साधना मार्ग के बारे में जानते हैं, निष्ठा रखते हैं परन्तु उसे आचरण में नहीं ला सकते। वे किसी भी प्रकार का व्रत, नियम या प्रत्याख्यान स्वीकार नहीं कर सकते। वहीं दूसरी कोटि के श्रावक सामर्थ्य अनुसार साधना मार्ग पर आगे बढ़ते हैं। यथाशक्ति व्रत नियम आदि भी ग्रहण करते हैं।

पंडित आशाधरजी ने सागार धर्मामृत में गृहस्थ व्रती के तीन भेद किए हैं– 1. पाक्षिक 2. नैष्ठिक और 3. साधक। यह तीन श्रेणियाँ साधना स्तर के आधार पर निर्धारित की गई है।

नाम आदि निक्षेप की अपेक्षा भी श्रावक के चार प्रकार माने गए हैं–

गृहस्थ जीवन की प्राथमिक योग्यता– सामान्य व्यक्ति को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सद्गृहस्थ बनाने के लिए जैनाचार्यों ने कई प्राथमिक गुणों एवं योग्यताओं का उल्लेख किया है। उन गुणों से अलंकृत गृहस्थ ही सम्यक्त्व व्रत, सामायिक व्रत, बारह व्रत आदि स्वीकार कर सकता है। आचार्यों ने मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों के नाम से इन गुणों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार श्रावक के 21 गुणों की चर्चा भी जैन वांङ्मय में प्राप्त होती है।

जैनाचार्यों ने श्रावक के लिए कुछ आचार-नियमों का पालन भी आवश्यक माना है। जैन धर्म की सूक्ष्म अहिंसा एवं मानवीयता इन गुणों से सिद्ध हो जाती है। सप्तव्यसन का त्याग एक जैन गृहस्थ के लिए परमावश्यक है। इसी के साथ कई दैनिक, चातुर्मासिक, वार्षिक कर्त्तव्यों का पालन भी जैन गृहस्थ के लिए आवश्यक माना गया है।

श्रावक द्वारा आचरणीय विभिन्न व्रत– श्रावक जीवन का दायरा अत्यन्त विस्तृत है। उसे सीमित या मर्यादित करने के लिए अनेक प्रकार के मार्ग शास्त्रों में बताए गए हैं। उन नियम मर्यादाओं को स्वीकार करते हुए गृहस्थ साधना मार्ग में प्रगति कर सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर कई दैनिक आवश्यक नियम-मर्यादाएँ बनाई गई तो कई नियम व्रत ऐसे भी हैं जिनका पालन निश्चित या स्वीकृत अवधि के लिए किया जाता है।

प्रस्तुत कृति में हमारी चर्चा के मुख्य विषय वह व्रत हैं जिनका स्वीकार श्रीसंघ की साक्षी में किया जाता है अथवा जिनके पालन से साधना में विशिष्ट ऊंचाईयाँ प्राप्त होती है। इस तृतीय खंड में प्रमुखतया सम्यक्त्व व्रतारोपण, बारह व्रतारोपण, सामायिक व्रतारोपण, पौषधव्रत, उपधानतप वहन एवं उपासक प्रतिमाराधना की चर्चा सात अध्यायों के माध्यम से की जाएगी।

व्रतधारी के लिए करणीय कर्त्तव्य– आचार्य जिनप्रभसूरि के मतानुसार सम्यक्त्व आदि व्रत धारण करने वाले गृहस्थ को निम्न कृत्यों का अवश्य पालन करना चाहिए।

- प्रतिदिन शक्रस्तवपूर्वक त्रिकाल चैत्यवंदन करना चाहिए।
- छ: माह तक दोनों संध्याओं में विधिपूर्वक चैत्यवंदन करना चाहिए।
- प्रतिदिन नमस्कार मन्त्र की एक माला गिननी चाहिए।
- द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि पर्व तिथियों में यथाशक्ति तप करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

- नित्य जागते एवं सोते समय 24 नमस्कार मंत्र का स्मरण करना चाहिए।
- वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं अहिंसामय धर्म की उपासना करनी चाहिए।
- प्रतिदिन पूजा करनी चाहिए।
- गीतार्थ परम्परा के अनुसार प्रतिदिन सामायिक आदि षडावश्यक विधि का पालन करना चाहिए।
- 22 अभक्ष्य, 32 अनन्तकाय, कन्दमूल आदि अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करना चाहिए।

इस प्रकार एक जैन गृहस्थ श्रावक की दिनचर्या एवं जीवनशैली का पूर्ण नियमन श्रुत साहित्य में प्राप्त हो जाता है। उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर जैन विधि-विधानों का अध्ययन करते हुए जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी इस अनुशीलन को सात अध्यायों में विभक्त किया है। इन सात अध्यायों के अन्तर्गत जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी विभिन्न तथ्यों को उजागर किया है।

इस तृतीय खण्ड का **प्रथम अध्याय** जैन गृहस्थ के प्रकार एवं उसकी धर्माराधना विधि का प्रतिपादन करता है। इस अध्याय में श्रावक के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए श्रमण और गृहस्थ वर्ग की साधना में रहे हुए भेदों को निरूपित किया है। यद्यपि जैन साधना पद्धति में श्रमण वर्ग की साधना को अधिक महत्त्व दिया गया है परंतु गृहस्थ साधना का भी उतनी ही महत्ता है। उस महत्त्व को दर्शाते हुए गृहस्थ उपासक की साधना का क्रम, गृहस्थ साधक के विभिन्न स्तर, श्रावक कहलाने के लिए आवश्यक प्राथमिक योग्यताएँ एवं उनके लिए करणीय-अकरणीय नियमों का भी वर्णन किया गया है।

इस अध्याय का ध्येय श्रावक धर्म से च्युत हो रहे जैन समाज को दैनिक कर्तव्यों, मार्मिक आचारों एवं आवश्यक गुणों से परिचित करवाना तथा उन्हें श्रावक धर्म की मुख्य भूमिका पर आरूढ़ करना है।

इसके पश्चात **दूसरे अध्याय** में सम्यक्त्व व्रत आरोपण विधि का मौलिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

सम्यक दर्शन अध्यात्म साधन का मूल आधार है। मुक्ति महल का प्रथम सोपान है। श्रुत धर्म और चारित्र धर्म की आधारशिला है। रत्नत्रयी में श्रेष्ठ रत्न है। गुणस्थान आरोहण का लाइसेंस है। सम्यक दर्शन की इसी महत्ता को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिपादित करने हेतु द्वितीय अध्याय में सम्यक दर्शन के विविध घटकों से परिचित करवाया है।

सर्वप्रथम सम्यक दर्शन के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके लक्षण एवं प्रकारों की चर्चा की है। तदनन्तर सम्यक दर्शन प्राप्ति के हेतु एवं विविध दृष्टियों से उसका वर्गीकरण किया है। एक बार सम्यक्त्व के विविध पहलुओं से परिचित करवाने के बाद सम्यक्त्वी में आवश्यक योग्यताएँ या स्वयं को जानने के थर्मामीटर के रूप में व्यवहार सम्यक्त्वी के 67 गुण, तत्सम्बन्धी 25 दोष, सम्यक दर्शन की आवश्यकता, विविध सम्प्रदायों में सम्यग्दर्शन विषयक धारणा, मार्गानुसारी के गुण आदि सम्यक्त्व वर्धक अनेक बिन्दुओं की चर्चा की है।

अंततः विविध जैन परम्पराओं में प्रचलित सम्यक्त्व व्रत आरोपण विधि एवं तत्सम्बन्धी रहस्यों को उजागर किया गया है। इस अध्याय का मुख्य ध्येय सम्यक दर्शन को पुष्ट करना है क्योंकि सम्यक्त्व व्रत का स्वीकार सद्‌गुण रूपी बीज का आधान है। जब कुछ बोया जाएगा,तभी कुछ पाया जाएगा। इसी कारण सर्वप्रथम सम्यक्त्व व्रत आरोपण विधि प्रस्तुत की गई है।

बारहव्रत आरोपण विधि का सैद्धान्तिक अनुचिन्तन करते हुए **तृतीय अध्याय** का लेखन किया गया है।

श्रावक साधना का मूल उत्स व्रतों पर ही निर्भर है। इनके अभाव में श्रावक साधना अर्थ हीन है। जैन साहित्य में आचार धर्म को सर्वाधिक महत्ता दी गई है। द्वादश व्रत या बारह व्रत श्रावकाचार की Guideline है। इनके अन्तर्गत पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रतों का समावेश होता है।

वर्णित अध्याय में श्रावक धर्म का प्रतिपादन करते हुए बारह व्रतों के स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया है। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा में बारह व्रत विषयक धारणा में प्राप्त मतभेद एवं व्रतों का पारम्परिक स्वरूप तद्‌विषयक ज्ञान को पुष्ट करेगा। इसी के साथ व्रत ग्रहण के इच्छुक श्रावकों के मार्गदर्शन के लिए व्रत ग्रहण सम्बन्धी आवश्यक निर्देशों, विकल्पों एवं भेदों का भी निरूपण किया है।

इस अध्याय के माध्यम से श्रावक वर्ग बारह व्रतों से पूर्ण रूपेण परिचित होकर स्व सामर्थ्य अनुसार उन्हें ग्रहण करने की भूमिका बना पाएं एवं अविरत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से देशविरति श्रावक की ओर अग्रसर हो पाएं यही इस अध्याय लेखन का लक्ष्य है।

समभाव साधना जैन धर्म की प्रत्येक क्रिया का सार है। सामायिक समत्व प्राप्ति का अनुपम एवं अनुभूत मार्ग है। षडावश्यक में प्रथम स्थान सामायिक का है तथा साधु एवं श्रावक दोनों ही वर्गों के लिए इसका पालन आवश्यक है। सामायिक की इसी मौलिकता को जन साधारण में प्रसरित करने के लिए **चौथे अध्याय** में सामायिक व्रतारोपण विधि का प्रयोगात्मक अनुसंधान कर उसके परिणामों को प्रस्तुत किया है।

सामायिक जैन श्रावक की मुख्य साधना है। इस विषयक कई प्रश्न चित्त में अनेकों बार उपस्थित होते हैं। उन्हीं शंकाओं का समाधान करने हेतु इस अध्याय में सामायिक का आगमोक्त स्वरूप एवं तत्सम्बन्धी विविध पहलुओं के रहस्यों को उजागर किया है। तदनु सामायिक साधना को उत्कृष्ट एवं शुद्ध बनाने के लिए विभिन्न दृष्टियों से सामायिक साधना के लाभ, उसके उपकरणों का प्रयोजन, आवश्यक योग्यताओं आदि की चर्चा की है। अध्याय के अंतिम चरण में विविध परम्पराओं में प्रचलित सामायिक विधि को सोद्देश्य प्रस्तुत किया गया है।

इस अध्याय के अनुशीलन से साधक वर्ग आत्म धर्म में लीन हो सकें एवं देशविरति से सर्वविरति की ओर बढ़ सकें यही अभिधेय है।

धर्म के मुख्य दो अंग है- श्रुत और चारित्र। सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान श्रुतधर्म रूप है तथा श्रमण और श्रावक के मूल एवं उत्तर गुण चारित्रधर्म रूप है। इन द्विविध धर्मों के संपोषण हेतु पर्व तिथि में पौषध व्रत ग्रहण करने का वर्णन जैन आचार ग्रन्थों में है। इसके द्वारा चारित्र धर्म का पालन होता है।

पाँचवें अध्याय में इसी तथ्य की पुष्टि हेतु पौषध व्रत विधि का प्रासंगिक अध्ययन किया गया है। इस अध्याय में पौषध के तात्त्विक अर्थ को समझाते हुए उसके विभिन्न प्रकार एवं विकल्पों को बताया है। पौषध व्रत की सूक्ष्मता को दर्शाने हेतु तत्सम्बन्धी कर्त्तव्य, सुपरिणाम एवं तद्योग्य आवश्यक तथ्यों का मनन भी किया है। पौषध व्रत की आराधना कब, क्यों और किस विधि पूर्वक करनी चाहिए इसका भी सुविस्तृत वर्णन किया गया है।

निष्कर्षत: इस अध्याय के माध्यम से साधक भौतिक एवं आध्यात्मिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाभ अर्जित करते हुए संयमी जीवन का किंच् आस्वाद ले पाएं यही भावना है।

जैन क्रिया-अनुष्ठानों में उपधान एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। यह सम्यक तप आराधना के साथ विशिष्ट क्रियाओं का अलौकिक उपक्रम है। उपधान को साधु जीवन का ट्रेलर कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। देशविरति से सर्वविरति मार्ग पर अग्रसर होने के लिए यह प्रेरणा सूत्र है। इसी कारण **छठें अध्याय** में उपधान तप वहन विधि का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत किया है।

इस अध्याय के अन्तर्गत उपधान शब्द का शास्त्रीय स्वरूप विभिन्न ग्रन्थों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इसी क्रम में विविध दृष्टियों से उपधान तप की मौलिकता, आवश्यकता एवं माहात्म्य भी बताने का प्रयास किया है। तदनन्तर उपधान के प्रकार एवं विविध ध्यान- साधनाओं से उसकी तुलना की गई है। उपधान तप एक महत्त्वपूर्ण आत्म विशोधि की क्रिया है अत: इसके शुद्धाचरण हेतु उपधानवाहियों के लिए हर दृष्टि से आवश्यक निर्देश आदि दिए गए हैं। उपधान तप की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों एवं उसके रहस्यात्मक भेदों को प्रस्तुत करने का भी हार्दिक प्रयत्न इस अध्याय में किया गया है।

आद्योपरान्त उपधान तप में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं अत: भिन्न-भिन्न काल में उपधान का क्या स्वरूप रहा एवं वर्तमान प्रचलित विधियों का वर्णन करते हुए इसे सर्वग्राही बनाने का ध्यान रखा गया है।

मालारोपण, उपधान की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। इसकी विविध पक्षीय जानकारी भी पाठक वर्ग के समक्ष इस अध्याय के माध्यम से प्रस्तुत की गई है।

इस अध्याय का मुख्य ध्येय उपधान तप के माहात्म्य एवं श्रावक जीवन में उसकी आवश्यकता को द्योतित करना तथा इस आराधना द्वारा श्रमण जीवन का अभ्यास करना है।

इस खण्ड के अन्तिम **सातवें अध्याय** में संयमी जीवन में आने वाली कठिनाईयों से मन विचलित न हो तद्हेतु ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करने की विधि का वर्णन किया है। इस अध्याय में उपासक प्रतिमाराधना का शास्त्रीय विश्लेषण किया गया है। श्वेताम्बर मन्तव्य अनुसार इन प्रतिमाओं का रूप विच्छिन्न हो चुका है वहीं दिगम्बर परम्परा में इन्हें आज भी विद्यमान मानकर इनकी साधना की जाती है।

चर्चित अध्याय में उपासक प्रतिमा का अर्थ विश्लेषण करते हुए उसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार एवं स्वरूप का तात्त्विक वर्णन किया गया है। तदनु प्रतिमा धारण के विविध पक्षों पर विमर्श करते हुए उसके सारभूत तथ्य एवं प्रतिमा धारण की विधि का निरूपण किया है।

प्रतिमा आराधना एक क्रमिक साधना है। इससे आचार पक्ष को सुसंस्कृत कर विशिष्ट रूप से आत्म साधना में अग्रसर हो सकते हैं।

इस प्रकार सात अध्यायों में निबद्ध इस शोध खण्ड के लेखन का मुख्य ध्येय व्रत साधना में हमारी दृष्टि को परिष्कृत करना और अन्तःकरण में साधना प्रकाश को अनुभूत करना है। व्रतारोपण का मुख्य प्रयोजन अज्ञान और अविवेक का निराकरण है।

व्रत साधना एक प्रकार का व्यायाम है। इसके प्रयोग से आत्मबल और सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन किया जा सकता है। मानवता से महानता की ओर अपने कदमों को अग्रसर किया जा सकता है। यह कृति अपने ध्येय में सफल बने तथा सुषुप्त युवा पीढ़ी एवं जैन समाज को आचरण में दृढ़ करते हुए उसे विश्व प्रेरणा बनाएं यही अन्तरेच्छा है।

गृहस्थ वर्ग के योग्य आवश्यक प्रतिपद्य व्रतों में जिसके दृढ़ता आ जाती है वही सर्वविरति के मार्ग पर सुप्रवृत्त हो सकता है। गृहस्थ जीवन में व्रत साधना मुनि जीवन की पाठशाला के समान होती है। इस प्रथम भाग में वर्णित खण्डों का ध्येय सत्त्वशाली श्रावक वर्ग का निर्माण करना एवं साधक वर्ग को साधना के शिखर पर आरूढ़ करना है। जैन विधि-विधानों की इस शोध यात्रा को चार पड़ावों में पूर्ण किया है। प्रथम पड़ाव श्रावकाचार से सम्बन्धित है जिसका संक्षिप्त एवं सारभूत वर्णन समाप्ति की ओर है। इस शोध यात्रा का दूसरा पड़ाव श्रमणाचार से सम्बन्धित है। इसमें श्रमण जीवन से सम्बन्धित विविध क्रियाओं का विश्लेषण किया है। श्रमण जीवन भारतीय संस्कृति का मात्र गौरव ही नहीं अपितु हृदय भी है। जब तक भारत की भूमि पर साधु-सन्तों का अस्तित्व है तब तक ही भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक रस जीवंत रह सकता है। अध्यात्म ही इस संस्कृति का मूल आधार है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाग-2

श्रमण जीवन को सदा सम्मान एवं आदर्श की भावना से देखा जाता है। परन्तु वर्तमान में धर्म विमुख होता युवावर्ग उनके जीवन की सूक्ष्मताओं से ही अनभिज्ञ है। इस कारण वे उनका न समुचित आदर कर सकते हैं और न ही उनके जीवन यापन में सम्यक रूप से सहयोगी बन सकते हैं। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखकर श्रमण जीवन के विविध घटकों को इस भाग में उजागर किया जाएगा।

यह भाग पाँच खण्डों में निम्न प्रकार से विभाजित हैं–

खण्ड-4– जैन मुनि के व्रतारोपण की त्रैकालिक उपयोगिता नव्य युग के संदर्भ में।

खण्ड-5– जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन।

खण्ड-6– जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन।

खण्ड-7– पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता आधुनिक परिप्रेक्ष्य में।

खण्ड-8– आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय विश्लेषण।

द्वितीय भाग को पाँच खण्डों में प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी चर्चा की गई है। इसी के साथ मुनि जीवन में प्रवेश पाने हेतु साधक की परीक्षा किस प्रकार की जाती है? मुनि जीवन में किन नियमों का परिपालन अत्यावश्यक है? वर्तमान समय में बाल दीक्षा कितनी औचित्यपूर्ण है? आदि कई विषयों का निरूपण किया है, जिससे एक सुदृढ़ नींव का निर्माण हो सके।

श्रमणाचार सम्बन्धी द्वितीय खण्ड अर्थात खण्ड-5 में जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण वर्णन किया है। इस चर्चा का लक्ष्य श्रमण जीवन में प्रविष्ट हुए व्यक्ति को तद्जीवन सम्बन्धी आचार व्यवस्था की सूक्ष्मता से परिचित करवाना है। मुनि जीवन में सदाचार, आज्ञा ग्रहण आदि का प्राथमिक मूल्य है। अपनी प्रत्येक आवश्यकता को याचना द्वारा पूर्ण करने से इच्छाओं पर नियंत्रण रहता है। वस्त्र ग्रहण, प्रतिलेखन, शय्यातर, वर्षावास आदि नियमों का परिपालन विवेक को जागृत रखने एवं स्वच्छंद वृत्ति को रोकने के लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्यावश्यक है अत: द्वितीय खण्ड में मुनि जीवन के आचार पक्ष की चर्चा की गई है।

आहार मानव की प्राथमिक आवश्यकता है। मुनि जीवन ग्रहण करने के बाद भी अस्खलित संयम साधना के लिए आहार की जरूरत रहती है। परंतु मुनि जीवन की साधना हेतु कैसा आहार कब ग्राह्य है? मुनि आहार की गवेषणा किस प्रकार करें? आज की परिस्थितियों में वह अपनी आहार संहिता का सुचारू रूप से किस प्रकार निर्वहन करें? आदि अनेक विचारणीय तथ्य हैं। दूसरी बात आचार में दृढ़ रहने के लिए आहार परमावश्यक है। आचार पक्ष का ज्ञाता ही आहार सम्बन्धी नियमों में जागृत रह सकता है अत: तृतीय क्रम पर आहार सम्बन्धी नियमों का निरूपण किया है।

चौथे क्रम पर मुनि जीवन के पदारोहण सम्बन्धी व्यवस्था की चर्चा की गई है, क्योंकि मुनि मंडल के कुशल सम्पादन के लिए वरिष्ठ संचालकों का होना आवश्यक है। मुनि जीवन की मर्यादाओं को जानने के बाद भी शिष्यों को सुप्रवृत्त रखने एवं मुनि जीवन के विभिन्न पथों पर सम्यक मार्गदर्शन हेतु अनुभवी एवं कुशल नियंताओं की आवश्यकता रहती है। पदारोहण के माध्यम से उन्हें नियुक्त कर देने पर समस्त मुनि मंडल को एक आलम्बन प्राप्त हो जाता है।

अंतिम क्रम में मुनि जीवन के परम आवश्यक पक्ष स्वाध्याय को उजागर करने का प्रयास किया है। आगमशास्त्र स्वाध्याय एवं सम्यक चिंतन के मूल आधार हैं। इन आगमों का अध्ययन किस रीति से करना चाहिए इसका निरूपण पाँचवें क्रम पर खण्ड-8 में योगोद्वहन के माध्यम से किया है।

इन पाँच खण्डों में संयोजित यह भाग श्रमणाचार को शिखर तक पहुँचाते हुए मुनियों को उसके निरतिचार पालन हेतु प्रेरित करेगा तथा श्रावक वर्ग को उचित रूप में सहयोगी बनने की प्रेरणा देगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खण्ड-4

जैन मुनि के व्रतारोपण की त्रैकालिक उपयोगिता नव्य युग के संदर्भ में

श्रमण संस्कृति मूलत: आध्यात्मिक एवं त्याग प्रधान संस्कृति है। अध्यात्म के धरातल पर ही जीवन का चरम विकास एवं सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति संभव है। मनुष्य अपने जीवन में कई लक्ष्य बनाता है एवं उन्हें प्राप्त भी करता है परंतु मानव जीवन का परम लक्ष्य अविनाशी शाश्वत सुख की प्राप्ति है। संस्कारी जीव असली सुख की पहचान नहीं कर पाता और भौतिकता के मार्ग पर आरूढ़ रहता है जबकि वैराग्यवान व्यक्ति संयम मार्ग पर आरूढ़ होकर नि:श्रेयस (शाश्वत सुख) प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर रहता है।

नि:श्रेयस की प्राप्ति रत्नत्रयात्मक मार्ग पर चलकर ही संभव है। यह मार्ग व्यक्ति या सम्पत्ति प्रधान नहीं होकर चारित्र प्रधान होता है। प्रश्न हो सकता है कि मोक्ष संप्राप्ति के लिए त्रिविध साधना मार्ग का ही विधान क्यों? वस्तुत: इस विधान के उत्स में पूर्ववर्ती आचार्यों एवं मनीषियों की मनोवैज्ञानिक सोच समझ में आ रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पक्ष हैं– ज्ञान, भाव और संकल्प। इन तीनों के परिष्कार के लिए त्रिविध साधना मार्गों का विधान किया गया है। चेतना के भावात्मक पक्ष को सम्यक बनाने के लिए सम्यकदर्शन या श्रद्धा की साधना का विधान है वहीं ज्ञानात्मक पक्ष के लिए सम्यग्ज्ञान और संकल्पात्मक पक्ष के लिए सम्यक चारित्र का विधान है। इस प्रकार यह एक गूढ़ मनोवैज्ञानिक मार्ग है।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो अन्य दर्शनों में भी आध्यात्मिक विकास हेतु त्रिविध साधना का मार्ग मिलता है। बौद्ध दर्शन में शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में, गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग के रूप में इसी मार्ग को पुष्ट किया गया है। पाश्चात्य संस्कृति में भी नैतिक बनने हेतु तीन आदेश उपलब्ध होते हैं– 1. स्वयं को जानो 2. स्वयं को स्वीकार करो और 3. स्वयं ही बन जाओ। यह सिद्धान्त भी त्रिविध साधना मार्ग के समकक्ष है। आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व, आत्म स्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व और आत्म निर्माण में चारित्र का तत्त्व समाविष्ट ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार त्रिविध साधना का मार्ग भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही सभ्यताओं में स्वीकृत है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में श्रमण जीवन की प्रासंगिकता– आज के प्रगतिवादी संसाधनजन्य युग में नित नए साधनों का आविष्कार हो रहा है। इस स्थिति में जिनधर्म उपदिष्ट त्याग एवं निवृत्तिमय मार्ग कितना उपादेय, प्रासंगिक एवं लोक-व्यवहार में पालने योग्य है? यह एक मननीय प्रश्न है। वर्तमान परिस्थितियों पर नजर दौड़ाएं तो वैयक्तिक स्तर से लेकर राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक हम जितनी भी समस्याओं का सामना कर रहे हैं उसका मुख्य कारण है किसी भी वस्तु, व्यक्ति या क्षेत्र का अति उपयोग, असंयम एवं अनियंत्रण। आत्म नियंत्रण और इन्द्रिय संयम सफलता के मूल स्रोत हैं।

एक वाहन चालक के लिए वाहन की गति जितनी आवश्यक होती है उतना ही आवश्यक है उस पर नियंत्रण अन्यथा दुर्घटना संभव है। परंतु आज की भोगवादी जीवन शैली से संयम और नियंत्रण जैसे शब्द ही लुप्त होते जा रहे हैं। आज के मार्केट का फंडा है आवश्यकता बढ़ाओ, क्योंकि आवश्यकता ही नूतन आविष्कारों में हेतुभूत बनेगी। यही आवश्यकताओं की अभिवृद्धि वर्तमान समस्याओं का मुख्य कारण है।

अधिकांश लोगों का मानना है कि संयम मार्ग कष्टदायक एवं लोक प्रवाह के विरुद्ध है। तब फिर यह त्रिकाल प्रासंगिक कैसे हो सकता है? वर्तमान परिस्थितियों की अपेक्षा उसमें कुछ परिवर्तन एवं छूट आवश्यक है। आज के समय में संयमी जीवन के कुछ नियम दुःसाध्य या लोक व्यवहार विरुद्ध प्रतिभासित होते हैं परन्तु उन नियमों के गर्भ में समाहित आत्म कल्याण एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष की भावना साधकों को स्वयमेव ही आत्मिक आनंद की आन्तरिक अनुभूति करवाती है।

कुछ लोग बाल दीक्षा, लूंचन, पद विहार आदि को वर्तमान समय के अनुरूप नहीं मानते। किसी अपेक्षा से वे सही हैं परन्तु संयम का मूल लक्ष्य अध्यात्म है लोक व्यवहार नहीं। दूसरी बात बाल दीक्षा का विरोध जिस Age factor के लिए किया जाता है। आज उसी आयु वर्ग के बच्चे हमारे भौतिक साधनों के प्रयोग में मास्टर बन जाते हैं। एक 30-40 वर्ष का व्यक्ति Computer, Mobile और Internet की जिन बारीकियों को नहीं जानता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इससे कई अधिक ज्ञान एक 8-10 साल के बच्चे के पास होता है। कच्ची मिट्टी को आकार देना जितना आसान है, बच्चों को भी इच्छित वातावरण में ढ़ालना उतना ही सहज है। एक उम्र के बाद विचारधारा एवं जीवन शैली को बदलना कठिन होता है। अत: जो बालक स्वेच्छा से संयम मार्ग पर अग्रसर होते हैं उन्हें योग्यता अनुसार एवं परीक्षण पूर्वक इस मार्ग पर अवश्य प्रवृत्त करना चाहिए। इस विषय में कई अन्य तर्क भी दिए जाते हैं जिसकी चर्चा खण्ड-4 में प्रसंगानुसार की जाएगी।

सांसारिक सुख-वैभव सागर के पानी के समान हैं ये कभी संतोष एवं समाधि दे ही नहीं सकते। तृष्णा शमन के लिए तो संयम रूपी नदी के मीठे जल का आस्वाद लेना आवश्यक है।

विहार यात्रा, भिक्षा वृत्ति आदि अन्य मुनि आचारों में भी आज के समय में अनेक कठिनाइयाँ देखी जाती है। कई लोग बढ़ते हुए Accident आदि की वजह से वाहन प्रयोग आदि का पक्ष रखते हैं तो कुछ शासन प्रभावना हेतु Laptop, mobile आदि आधुनिक साधनों के प्रयोग की सलाह देते हैं और कभी-कभी कुछ बातें उचित भी लगती है, परन्तु यदि सूक्ष्मता पूर्वक विचार करें तो उक्त सभी साधन संयमी जीवन के विघातक ही प्रतीत होते हैं। संयम जीवन का मूल लक्ष्य आत्म कल्याण है एवं तदनन्तर समाज कल्याण। जबकि बाह्य सभी साधन सुविधाओं के साथ आत्म पतन में हेतुभूत बनते हैं।

इस खण्ड लेखन का मुख्य उद्देश्य संयमी जीवन की सूक्ष्मताओं से परिचित करवाते हुए वर्तमान में भी उन नियमों की प्रासंगिकता एवं महत्ता को सिद्ध करना तथा समाज कल्याण के लिए अन्य अपवाद मार्गों का सूचन करना है। इस खण्ड में मुख्य रूप से मुनि व्रतारोपण सम्बन्धी चर्चा की गई है।

वस्तुतः आध्यात्मिक विकास एवं चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदाचार का सर्वोपरि स्थान है। सदाचारवान व्यक्ति ही अक्षुण्ण सुख की सृष्टि कर सकता है। इसीलिए कहा भी गया है– **"आचार परमो धर्मः"** आचार सभी का परम धर्म है।

प्रस्तुत कृति में सदाचार युक्त जीवन में प्रवेश करने से सम्बन्धित विधियों-उपविधियों का मार्मिक विवेचन किया गया है जो सात अध्यायों में पूर्ण रूपेण अपने विषय की प्रस्तुति करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सदाचार का मूल ब्रह्मचर्य है। संयम जीवन का मूल इसी में समाहित है अत: सर्वप्रथम **पहले अध्याय** में ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण विधि पर अनेक दृष्टियों से विचार किया है।

भारतीय धर्मों में ब्रह्मचर्य का सर्वोपरि स्थान है। उसे समस्त साधनाओं का मेरूदण्ड माना जाता है। साधक के जीवन की समस्त साधनाएँ ब्रह्मचर्य की उपस्थिति में ही फलीभूत होती है, अन्यथा मात्र शारीरिक दण्ड की प्रक्रिया बनकर रह जाती है। समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्य का पालन करना दुष्कर है। इसी कारण इसे सर्वश्रेष्ठ माना है।

प्रस्तुत अध्याय में इसी महत्ता को वर्धित करते हुए ब्रह्मचर्य का अर्थ, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उसकी उपादेयता, ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण के अधिकारी आदि विविध पक्षों पर विचार किया गया है। इसी के साथ वैदिक एवं बौद्ध परम्परा का इस विषयक अभिमत तुलनात्मक विवेचन के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

वर्णित अध्याय का लक्ष्य ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा को सर्वत्र प्रसारित करते हुए जीवन को सदाचारी बनाने की प्रेरणा देना है।

दूसरे अध्याय में क्षुल्लकत्व दीक्षा विषयक पारम्परिक अवधारणा को स्पष्ट किया गया है।

यदि गृहस्थ व्रती को सर्वविरति धर्म अंगीकार करना हो अर्थात प्रव्रज्या मार्ग पर आरूढ़ होना हो तो ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार के पश्चात क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यह प्रव्रज्या से पूर्व का साधना काल है। इसके माध्यम से मन को मुनि दीक्षा हेतु परिपक्व बनाया जाता है।

श्वेताम्बर मतानुसार प्रव्रज्या इच्छुक को सर्वप्रथम तीन वर्ष के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करना चाहिए। फिर तीन वर्ष के लिए क्षुल्लक दीक्षा धारण करनी चाहिए। उसके बाद प्रव्रज्या स्वीकार करके फिर अंत में उपस्थापना ग्रहण करनी चाहिए। यह क्रम व्रताभ्यास एवं निर्दोष आचरण के लक्ष्य से बनाया गया है। वर्तमान में यह परम्परा दिगम्बर आम्नाय में देखी जाती है।

प्रस्तुत अध्याय में क्षुल्लक के विभिन्न अर्थों की मीमांसा करते हुए क्षुल्लकत्व ग्रहण एवं प्रदान करने के अधिकारी कौन? क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण करने हेतु श्रेष्ठ काल कौनसा? इसे किस विधि से ग्रहण करें? आदि की प्रामाणिक चर्चा ग्रन्थ आधार से की गई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नन्दी रचना, जैन संप्रदाय में एक सुप्रसिद्ध मांगलिक क्रिया है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में सम्यक्त्व व्रत, बारहव्रत, उपधान, छोटी दीक्षा, बड़ी दीक्षा, पदारोहण आदि विशिष्ट अनुष्ठान अरिहंत प्रतिमा की उपस्थिति में नन्दी रचना (समवसरण) के समक्ष किए जाते हैं। इसी महत्त्व को उजागर करते हुए **तीसरे अध्याय** में नन्दी रचना विधि का मौलिक निरूपण किया गया है।

इस अध्याय का मूल ध्येय शास्त्रोक्त विधि-विधानों की महत्ता एवं उपयोगिता को द्योतित करना है।

इस शोध खण्ड के **चौथे अध्याय** में प्रव्रज्या अर्थात दीक्षा विधि पर शास्त्रीय विचारणा की गई है। सदाचारमय जीवन जीते हुए अनासक्ति के अभ्यास एवं सांसारिक प्रपंचों से निवृत्त होने के लिए दीक्षा आवश्यक है। बाह्य जगत से हटकर एवं अन्तर जगत के दर्शक बनकर ही सदाचारी जीवन का अनुसरण किया जा सकता है।

प्रव्रज्या अर्थात मुनि जीवन में प्रवेश करने की विधि। इस विधि की महत्ता को उजागर करते हुए चर्चित अध्याय में प्रव्रज्या सम्बन्धी अनेक पक्षों पर अनुशीलन किया गया है। जैनाचार में जितनी महत्ता श्रमण जीवन की है उतनी ही तत्सम्बन्धी अवधारणाओं की है। इस अध्याय में दीक्षा ग्राही एवं दीक्षा दाता दोनों के विषय में जहाँ विविध पक्ष प्रस्तुत किए हैं वहीं तत्सम्बन्धी उपकरण एवं क्रियाओं के रहस्य आदि को भी उजागर किया है।

यह अध्याय दीक्षा विषयक शंकाओं का समाधान करते हुए संयमी जीवन की सूक्ष्मताओं से परिचित करवाता है।

पाँचवें अध्याय में मण्डली तप विधि की तात्त्विक विचारणा की गई है। प्रायः सभी परम्पराओं में सामूहिक अनुष्ठान को श्रेष्ठ माना है। सामूहिक आराधना से भावोल्लास में शतगुणा वृद्धि होती है। मण्डली तप समूह में प्रवेश करने का Entry Pass है। मण्डली का सामान्य अर्थ है समूह या समुदाय। प्रतिक्रमण आदि सात आवश्यक क्रियाओं को सामूहिक रूप से सम्पन्न करने की अनुमति एवं योग्यता प्राप्त करने हेतु जो तप किया जाता है वह मण्डली तप कहलाता है। इसके बाद ही नवदीक्षित मुनि समुदाय के साथ प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ सम्पन्न कर सकता है। श्रमण जीवन में इस विधान का अत्यधिक महत्त्व रहा हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तुत अध्याय में मण्डली का अर्थ बताते हुए उसकी आवश्यकता कब से और क्यों? विविध संदर्भों में उसकी प्रासंगिकता, मण्डली तप विधि आदि का सारगर्भित स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय का हेतु चारित्र धर्म की अक्षुण्णता को बनाए रखना है।

केश लुंचन जैन मुनियों की एक विशिष्ट एवं अपरिहार्य क्रिया है। यह क्रिया कष्ट सहिष्णुता का चरम प्रतीक है। दीक्षित होने के साथ ही केश लोच होता है। केश लोच प्रव्रजित व्यक्ति के कषायों को लुंचित करने का प्रतीक है। केश लुंचन के पीछे कई प्रयोजन रहे हुए हैं। उन सभी प्रयोजनों को स्पष्ट करते हुए छठे अध्याय का गुम्फन किया गया है।

छठवें अध्याय में केशलोच की आगमिक विधि बतलाते हुए उसके अपवाद आदि बताए गए हैं। इसी क्रम में केश लुंचन आवश्यक क्यों? केश लुंचन न करने से लगने वाले दोष, मुनि किन स्थितियों में लोच करवाए? केश लुंचन करने एवं करवाने के हेतु, आवश्यक योग्यता आदि विविध विषयों पर प्रकाश डाला है।

इस अध्याय का ध्येय केश लुंचन जैसी अपूर्व क्रिया के महत्त्व एवं गूढ़ रहस्यों से परिचित करवाना है।

इस शोध खण्ड के **सातवें अध्याय** में उपस्थापना विधि का रहस्यमयी अन्वेषण प्रस्तुत किया गया है। उपस्थापना यह पंचमहाव्रत आरोपण की अति महत्त्वपूर्ण क्रिया है। इस विधान के द्वारा नूतन दीक्षित मुनि को पंच महाव्रत अंगीकार करवाए जाते हैं। प्रव्रज्या एक सदाचार समन्वित प्रक्रिया है। सम्यक चारित्र का आधार है। चारित्र धर्म का केन्द्र स्थल है। इस अनुष्ठान के द्वारा जीवन पर्यन्त के लिए सामायिक चारित्रधारी नूतन मुनि को यथोक्त तपोनुष्ठान करवाकर उसे साधुओं की मण्डली में प्रवेश दिया जाता है तथा उसे पंच महाव्रतों पर स्थापित करके श्रमण-श्रमणी संघ का स्थायी सदस्य बनाते हैं।

पंच महाव्रतों का निर्दोष पालन मोक्ष का अनन्तर कारण है। इसी हेतु से यह विधि अन्तिम क्रम पर कही गई है। इस अध्याय के अन्तर्गत उपस्थापना सम्बन्धी समस्त छोटे-बड़े पक्षों का अध्ययन किया गया है। इसमें मुख्य रूप से पंचमहाव्रत एवं रात्रिभोजन त्याग पर विविध परिप्रेक्ष्यों में विशद चर्चा की गई है। इसी के साथ आधुनिक युग में पंच महाव्रत की उपादेयता, शारीरिक स्वस्थता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं समाज प्रबंधन में इसकी आवश्यकता आदि पर विचार किया गया है।

समाहारत: साधु जीवन की आन्तरिक व्यवस्था, उनकी नियम-मर्यादाएँ, साधुओं द्वारा किए जाने वाले विविध क्रियाओं का सार समझने में यह अध्याय एक सहायक चरण होगा। इस खण्ड लेखन का मुख्य ध्येय जन-जीवन में संयम धर्म के प्रति जागृति एवं बहुमान जगाना है। आज के युग में उपाश्रय एवं मन्दिरों से बनी दूरियां, साधु-साध्वियों के विचरण की अल्पता, ऑफिस आदि में बढ़ती व्यस्तता के कारण लोग श्रमण जीवन के आचारों को विस्मृत करते जा रहे हैं। संयम ग्रहण करना उन्हें कठिन, अप्रासंगिक एवं सारहीन प्रतीत होता है। ऐसी ही अनेक भ्रमपूर्ण अवधारणाओं का शमन करना ही इस खण्ड लेखन का अभिधेय है।

खण्ड-5

जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वांगीण अध्ययन

भारतीय संस्कृति 'श्रमण और 'ब्राह्मण' इन दो धाराओं में प्रवाहित है। श्रमण संस्कृति आध्यात्मिक जीवन का और ब्राह्मण संस्कृति सुख-समृद्धि सम्पन्न ऐहिक जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। जैन परम्परा श्रमण संस्कृति की एक मुख्य धारा है। इस परम्परा में श्रमण का तात्पर्य पाप विरत साधक है। जैन परम्परा के अनुसार समस्त पाप कर्म की प्रवृत्तियों से बचना श्रमण जीवन का बाह्य पक्ष है तथा समस्त राग-द्वेषात्मक वृत्तियों से ऊपर उठना श्रमण का आभ्यंतर पक्ष है।

जैन धर्म में दो प्रकार की जीवन शैली का निरूपण है– 1. गृहस्थ जीवन (श्रावकाचार) 2. श्रमण जीवन (श्रमणाचार)। यद्यपि प्रत्येक साधक का अभिधेय श्रमण जीवन ही है परंतु यदि परिस्थितिवश वह उसे स्वीकार न कर सके तो अपवाद रूप में श्रावकाचार का पालन तो आवश्यक है।

मुनि जीवन की दैनन्दिन एवं सार्वकालिक आचार प्रधान क्रियाएँ श्रमणाचार कहलाती है। इसके अन्तर्गत श्रमण का समस्त आचार पक्ष समाहित हो जाता है। आज यदि विश्व की समस्त संत परम्पराओं का अवलोकन किया जाए तो जैन श्रमणाचार श्रेष्ठतम आचार के रूप में परिलक्षित होता है। परन्तु भगवान महावीर द्वारा निर्दिष्ट साधु जीवन की तुलना वर्तमान साधु जीवन से करें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो कई परिवर्तन नजर आते हैं। उनमें कुछ तो गीतार्थ मुनियों द्वारा देश-काल-परिस्थिति के आधार पर किए गए तो कुछ बदलाव शिथिलता एवं मन के ढीलेपन के कारण आए क्योंकि जो शारीरिक क्षमता, मानसिक स्थिरता एवं चारीत्रिक दृढ़ता उस समय में थी वह आज प्राय: कठिन प्रतीत होती है।

एक तथ्य यह भी है कि श्रावक वर्ग के आचारों में भी कालक्रम अनुसार अनेक बदलाव आए हैं जिसका प्रभाव प्रकारांतर से श्रमण जीवन पर भी स्वाभाविक है क्योंकि श्रमण भी तो उन्हीं घरों से निकलते हैं, उन्हीं के द्वारा प्रदत्त भोजन करते है एवं उन्हीं के बीच रहते हैं अत: जैसा बाह्य वातावरण होगा, सामाजिक संरचना होगी, वैसा ही प्रभाव श्रमण जीवन पर परिलक्षित होगा।

वर्तमान जीवन शैली के कारण भी कई प्रकार के अपवाद एवं शिथिलताएँ साधुओं को अपनानी पड़ी। जैसे कि आज का खान-पान और पहनावा जिस प्रकार का हो चुका है उसमें मुनि को निर्दोष वस्त्र एवं शुद्ध आहार मिलना बहुत कठिन हो गया है। इन परिस्थितियों में यदि किसी प्रकार के Quality आदि की प्रमुखता न हो तो भी उन्मार्ग प्रवृत्ति से बचा जा सकता है।

संयम जीवन की मर्यादाएँ वर्तमान में कितनी प्रासंगिक है?

कई लोग शंका करते हैं कि जैन श्रमण की जो आचार संहिता आगम ग्रन्थों में चर्चित है वह पूर्व काल की अपेक्षा से है। आज की जीवन पद्धति और प्राचीन जीवन पद्धति में रात-दिन का अंतर आ चुका है। पूर्व कालिक जीवन शैली में लोग संयुक्त परिवारों में रहते थे। उनका जीवन पूर्ण रूपेण प्रकृति पर निर्भर था। इस कारण मुनियों को भी आवश्यक सामग्री सहज रूप से उपलब्ध हो जाती थी। चाहे पात्र हो, वस्त्र हो, आहार व्यवस्था या निहार व्यवस्था सभी के लिए उपयुक्त स्थान प्राप्त होते थे। लोगों के मन में साधु-साध्वियों के प्रति बहुमान भाव भी अधिक होते थे। साधु-संतों को रहने के लिए भी स्थान प्राप्त हो जाता था। परंतु आजकल परिस्थितियाँ एकदम विपरीत है। जो साधु अपने निमित्त से एक जीव की भी हिंसा नहीं करवाते उन साधुओं के लिए आज बड़े-बड़े उपाश्रय बनने लगे हैं। नारियल और तुम्बी के पात्रों का स्थान Specially निर्माण होने वाले पात्रों ने ले लिया है और तो और गोचरी की बढ़ती असुविधा में Tiffin और चौकों की व्यवस्थाएँ भी शुरू हो गई है। बड़े-बड़े शहरों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चातुर्मास करके शुद्ध बाह्य भूमि की गवेषणा प्राय: दुष्कर है। इन परिस्थितियों में किस प्रकार शुद्ध एवं निरतिचार जीवन का पालन किया जाए यह एक चिंतन का विषय है? हाइवे रोडों पर बढ़ते ट्रैफिक के कारण दुर्घटनाओं की संख्या भी बढ़ती जा रही है। इन परिस्थितियों में पूर्व काल की भाँति निरपेक्ष, निराश्रित एवं निरतिचार जीवन जीना प्राय: असंभव प्रतीत होता है।

फिर भी इन सब परिस्थितियों के बावजूद भी श्रमणाचार का यथाशक्य परिपालन स्वस्थ, सात्त्विक एवं तनाव मुक्त जीवन जीने के लिए राजमार्ग है। वैज्ञानिक दृष्टि से उबले हुए पानी का प्रयोग, जूते-चप्पल पहने बिना पैदल चलना, चिंता रहित अपरिग्रही जीवन, श्वेत वस्त्रों का परिधान, काष्ट पात्रों में मिला हुआ भोजन, केश लुंचन आदि सभी नियम शारीरिक दृष्टि से अति श्रेयस्कर एवं लाभकारी है। शारीरिक, मानसिक एवं प्राकृतिक समस्याओं के समाधान के लिए ब्रह्मास्त्र है।

मुनि जीवन सर्वाङ्गीण विकास का राजमार्ग– श्रमण जीवन सदाचार के अभ्यास वर्धन का प्रशस्त मार्ग है। अन्तरंग विकास के लिए यहाँ पर्याप्त चरण उपलब्ध होते हैं। इस भूमिका पर आरूढ़ होकर मानसिक एवं आध्यात्मिक शुद्धि के साथ सूक्ष्म चित्त वृत्तियों का विकास होता है। अमानवीय जीवन मूल्यों से ऊपर उठकर दोषों एवं अवगुणों का निरसन किया जा सकता है।

मुनि जीवन एक प्रकार की साधना है। चिन्तन और चरित्र में अत्यंत घनिष्ठता अथवा एकरूपता होना ही साधना है। साधना को उच्च स्तर तक पहुँचने के लिए मन: संस्थान को आत्मानुशासित कर पूर्वजन्म के कुसंस्कारों से जूझना पड़ता है। दुर्विचारों को सद्विचारों के माध्यम से परास्त करना पड़ता है। साधु जीवन में प्रतिलेखना आदि क्रियाओं को मनोनिग्रह पूर्वक निष्पादित करना भी एक प्रकार की साधना है।

श्रमण जीवन आराधना का सम्पुट होता है। आराधना अर्थात सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में निरत होकर विश्व कल्याण की कामना करना। आराधना हेतु मन, वचन एवं काया इन तीन योगों की शुद्धि आवश्यक है।

उपासना (भक्ति योग) मुनि जीवन का अभिन्न अंग है। आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने का सेतु है। उपासनात्मक पद्धति के द्वारा ही परमात्मा के साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक Direct connection स्थापित होता है अर्थात स्व स्वरूप का बोध हो जाता है। यह अनुभूतिजन्य तथ्य है कि निर्भ्रान्त एवं श्रद्धा पूर्ण उपासना परम लक्ष्य को अवश्यमेव प्राप्त करवाती है।

मुनि जीवन साधना, आराधना और उपासना के संयोग का रस निष्पादन है। तीनों के संगम की फलानुभूति है। उपासना जहाँ भूमि शोधन का कार्य करती है वहाँ साधना बीजारोपण का एवं आराधना फसल प्राप्ति के तुल्य है। चाहे श्रावकाचार हो या श्रमणाचार इन तीनों का आश्रय लेना अत्यावश्यक है।

वर्तमान युग में इस शोध कार्य की आवश्यकता– प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में श्रमणाचार से सम्बन्धित विधि-विधानों का तुलनात्मक, समीक्षात्मक एवं ऐतिहासिक पक्ष प्रस्तुत किया है। साथ ही इनके प्रयोजन आदि उपयोगी तथ्यों को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। द्वितीय भाग का यह दूसरा उपखण्ड है। प्रथम उपखण्ड मुनि जीवन में प्रवेश पाने की क्रिया-प्रव्रज्या का स्वरूप स्पष्ट रूप से समझने के बाद द्वितीय उपखण्ड में श्रमण जीवन की सम्पूर्ण चर्या का विवेचन किया है। प्रव्रज्या इच्छुक साधकों को अपनी नियम मर्यादाओं का ज्ञान हो तो वे शुद्ध रूप से निरतिचार संयमी जीवन का परिपालन कर सकते हैं। श्रमणाचार के विविध पक्षों को ध्यान में रखते हुए इस कृति को पन्द्रह अध्यायों में निम्न प्रकार गुम्फित किया है।

प्रथम अध्याय में श्रमण शब्द का अर्थ विश्लेषण करते हुए श्रमण का स्वरूप एवं उसके विविध पक्षों को उजागर किया है।

जैन विचारणा के अनुसार श्रमण वह है जो समत्व भाव की साधना के द्वारा अपनी वृत्तियों को शमित करने का प्रयत्न करता है। आगमों में कहा गया है जो साधक शरीर से आसक्ति नहीं रखता। किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं करता। हिंसा, झूठ, मैथुन, परिग्रह आदि विचारों से दूर रहता है। राग-द्वेष आदि कषाययुत कर्मादान एवं आत्म पतन के हेतुओं से निवृत्त रहता है। इन्द्रियों का विजेता एवं मोक्ष मार्ग का सफल यात्री है। मोह ममत्व से रहित है वही श्रमण है।

श्रमण की इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए प्रथम अध्याय में श्रमण शब्द का अर्थ विश्लेषण, श्रमण के प्रकार, श्रमण जीवन का महत्त्व, श्रमण के सामान्य-विशिष्ट गुण, श्रमण की दैनिक एवं ऋतुबद्ध चर्या, श्रमण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवन की सफलता हेतु आवश्यक शिक्षाएँ आदि अनेक विषयों पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

इस खण्ड के **द्वितीय अध्याय** में जैन साधु-साध्वियों के लिए उत्सर्गत: पालन करने योग्य दस कल्प, दस सामाचारी, बाईस परीषह, बावन अनाचीर्ण, अठारह आचार स्थान आदि सामान्य नियमों का सहेतुक वर्णन किया गया है।

जैन मुनि का जीवन एक नियमयुत मर्यादित जीवन कहलाता है। उन्हीं नियमों के कारण उनका जीवन एक उच्चादर्श के रूप में समाज के समक्ष प्रस्तुत होता है। मुनि धर्म के नियमोपनियमों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जा सकता है। कुछ नियम उस कोटि के होते हैं जो अनिवार्य रूप से परिपालनीय हैं। कुछ नियम उस स्तर के होते हैं जो उत्सर्ग और अपवाद के रूप में आचरणीय होते हैं। कुछ नियम इतने श्रेष्ठ हैं कि उनमें दोष लगने पर श्रमण स्वीकृत धर्म से च्युत हो जाता है तथा कुछ नियम इस श्रेणी के हैं जिनका भंग होने से मुनि धर्म खण्डित तो नहीं होता पर दूषित हो जाता है। ऐसे ही कुछ नियमों की चर्चा वर्णित अध्याय में उपरोक्त बिन्दुओं के रूप में की गई है।

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करते हुए पाँचवें खण्ड के इस **तृतीय अध्याय** में अवग्रह अर्थात स्थान आदि के ग्रहण सम्बन्धी विधि नियमों की भेद-प्रभेद सहित चर्चा की गई है।

अवग्रह जैन धर्म का आचार मूलक एक पारिभाषिक शब्द है। सामान्यतया अवग्रह का अर्थ ग्रहण करना होता है। मुनि विचरण करते हुए अपनी आवश्यकता अनुरूप अनेक वस्तुओं का ग्रहण श्रावक वर्ग या अधिकृत व्यक्ति आदि की आज्ञा से करते हैं। जैन साहित्य में अवग्रह शब्द के अनेक अर्थ किए गए हैं।

प्रस्तुत अध्याय में अवग्रह सम्बन्धी विधि-नियमों की चर्चा करते हुए अवग्रह का अर्थ, उसके प्रकारान्तर, अवग्रह ग्रहण करने का क्रम, अवग्रह की क्षेत्र सीमा, अवग्रह सम्बन्धी निर्देश, अवग्रह की आवश्यकता क्यों? आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अवग्रह विधि की उपादेयता आदि तत्सम्बन्धी अनेक विषयों पर चर्चा की गई है।

चतुर्थ अध्याय में साम्भोगिक विधि वर्णित की है। संभोग अर्थात मुनियों की बीच वस्तुओं का आदान-प्रदान। जैन मुनियों के लिए उल्लेख है कि वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने द्वारा गृहित वस्तु किसी अन्य को नहीं दे सकते अन्यथा अदत्तादान के भागी बनते हैं। वहीं श्वेताम्बर आगमों में यह भी उल्लेख है कि जो साधु संविभाग करके नहीं खाता वह मोक्ष का अधिकारी नहीं बनता अत: संभोग विधि की महत्ता को देखते हुए इस अध्याय में मुख्य रूप से बताया गया है कि मुनि जीवन में समान सामाचारी का पालन करने वाले साधु-साध्वी के बीच आहार-वस्त्र-उपधि आदि का आदान-प्रदान हो सकता है। अन्य सामाचारी वालों के साथ आहार आदि करना निषिद्ध है। इन्हीं तथ्यों को स्पष्ट करते हुए इस अध्याय में संभोग का अर्थ, संभोग के प्रकार आदि की चर्चा की गई है।

पंचम अध्याय में मुनि धर्म की आराधना में उपयोगी उपधि एवं उपकरणों का सोद्देश्य स्वरूप बतलाया गया है। जिससे उन साधनों का सम्यक उपयोग हो सके।

चारित्र धर्म की आवश्यक क्रियाओं को सम्पन्न करने एवं संयम यात्रा के रक्षणार्थ कुछ जरूरी उपकरणों की आवश्यकता होती है। वस्त्र, कंबली आदि उपधि कहलाते हैं तथा पात्र, रजोहरण आदि उपकरण। जो पात्र आदि उपकरण रत्नत्रय की साधना में सहायक बनते हैं, उनका उपयोग भी विवेक एवं सावधानी पूर्वक होना चाहिए। अन्यथा कर्म निर्जरा के यह साधन कर्म बन्धन में हेतुभूत बनते हैं।

उपकरणों की इसी सूक्ष्मता को ध्यान में रखते हुए पाँचवें अध्याय में उपधि एवं उपकरण शब्द का अर्थ, उपधि के प्रकार, औघिक उपधि की संख्या, साध्वियों की उपधि का परिमाण एवं प्रयोजन ऐतिहासिक विकास क्रम आदि अनेक विषयों पर इस अध्याय में चर्चा की गई है।

प्रतिलेखना श्रमण जीवन का मूल आधार एवं श्रावक जीवन का प्राण है। अहिंसामय जीवन पद्धति का अभिन्न अंग है। जैन मुनि की प्रत्येक चर्या प्रतिलेखना प्रमार्जना पूर्वक होती है। दशवैकालिक सूत्र के अनुसार प्रत्येक क्रिया को जयणा एवं जागृतिपूर्वक करते हुए उसमें आत्मशोधन करना ही प्रतिलेखना का हार्द है।

षष्ठम अध्याय में प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए तत्सम्बन्धी नियमों का विवरण दिया गया है।

इसमें वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि उपकरण तथा वसति आदि का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिलेखन कब, कितनी बार, किस विधि पूर्वक किया जाना चाहिए इसका विवेचन किया है। इसी के साथ इस अध्याय में प्रतिलेखना के आवश्यक नियम, प्रातःकालीन एवं सायंकालीन प्रतिलेखना विधि, प्रतिलेखना सम्बन्धी विधि-विधानों के रहस्य एवं प्रतिलेखना यंत्र आदि भी दिए गए हैं जिससे श्रावक एवं श्रमण वर्ग प्रतिलेखना जैसे सूक्ष्म विषय से भलीभाँति परिचित हो सकें।

इस खण्ड के **सप्तम अध्याय** में वस्त्र ग्रहण सम्बन्धी विधि-नियमों की चर्चा की गई है। वस्त्र मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता है। शरीर, शील एवं संयम रक्षार्थ, लज्जा निवारणार्थ तथा शीत आदि परिषहों के उपशमनार्थ मुनि जीवन में वस्त्र ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। शरीर विभूषा या मनःतोष के लिए वे वस्त्र धारण नहीं करते। सात्विक एवं निर्दोष वस्त्र ही मुनि के लिए कल्प्य है। ऐसे अनेक विषयों की चर्चा वर्णित अध्याय में की गई है।

इस अध्याय में वस्त्र ग्रहण विधि एवं गवेषणा पूर्वक वस्त्र ग्रहण के हेतु बताते हुए वस्त्रों का ग्रहण किस विधि पूर्वक, कितनी संख्या एवं परिमाण में करें, वस्त्र ग्रहण के प्रयोजन, आधुनिक संदर्भों में उनकी उपादेयता, वस्त्र ग्रहण की प्रासंगिकता आदि विषयों पर चर्चा की गई है।

मुनि जीवन चर्या का एक आवश्यक अंग है पात्र। जब तक साधक दृढ़ मनोबल पूर्वक करपात्री की भूमिका पर नहीं पहुँच जाता, तब तक उसे पात्रक की आवश्यकता रहती है।

अष्टम अध्याय में पात्र ग्रहण सम्बन्धी विधि नियमों की चर्चा करते हुए पात्र के प्रकार, पात्र की गवेषणा के हेतु, क्षेत्र गमन सीमा, पात्र ग्रहण विधि,पात्र रखने की उपयोगिता आदि विधि नियमों का निरूपण किया है।

इस खण्ड का **नवम अध्याय** वसति विधि से सम्बन्धित है। जिस प्रकार जीवन निर्वाह हेतु आहार आवश्यक है उसी प्रकार श्रान्त शरीर को विश्राम देने हेतु एवं धार्मिक आराधना आदि के लिए स्थान की आवश्यकता होती है। साधु-साध्वी के रहने योग्य स्थान वसति कहलाता है। यह अनुभव सिद्ध है कि सदाचार के सम्पर्क से सम्यक दर्शन आदि की शुद्धि बढ़ती है तथा कुत्सित आचार वालों के सम्पर्क से सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। जैसे गुलाब के संसर्ग से जल सुगंधित एवं शीतल हो जाता है वहीं अग्नि का संयोग उस जल को उष्ण और विरस बना देता है वैसे ही मुनि के जीवन पर शुद्ध-अशुद्ध वसति का असर पड़ता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तुत अध्याय में वसति सम्बन्धी विधि-नियमों की चर्चा करते हुए साधु-साध्वी के लिए कौनसी वसति क्यों वर्जित मानी गई है, मुनियों के लिए निषिद्ध स्थान, वसति दूषित होने के कारण, शुद्ध वसति की उपादेयता, निषिद्ध वसति में रहने से लगने वाले दोष, वसति प्रवेश एवं बर्हिगमन विधि, ब्रह्मचर्य पालन में वसति की उपयोगिता आदि अनेक तथ्यों को उद्घाटित किया है।

जो उपकरण मुनि के लिए सोने-बैठने आदि में उपयोगी होते हैं उन्हें संस्तारक कहा जाता है। इस दृष्टि से पट्टा, चौकी, फलक, दर्भादिक का बिछौना आदि संस्तारक कहलाते हैं।

दशम अध्याय में साधु-साध्वी के लिए बिछाने योग्य पट्टा, फलक, तृण आदि ग्रहण करने सम्बन्धी विधि-नियमों एवं निर्देशों का वर्णन करते हुए इसकी औत्सर्गिक और वैकल्पिक विधियाँ बताई गई है।

एकादश अध्याय में शय्यातर सम्बन्धी विधि-नियमों की चर्चा की गई है। आगमिक परिभाषा के अनुसार जो गृहस्थ साधु-साध्वी को स्थान या उपाश्रय प्रदान करता है, वह शय्यातर कहलाता है। शय्या दान के कारण वह भव सागर से तिर जाता है इस कारण भी वह शय्यातर कहलाता है।

उपरोक्त अध्याय में शय्यातर का अर्थ, शय्यातर-अशय्यातर कब और कैसे, शय्यातर के विकल्प, शय्यातर पिण्ड के प्रकार, उसके निषेध के कारण, शय्यातर विधि की उपादेयता आदि विविध विषयों पर चर्चा की गई है।

भारतीय परम्परा में वर्षावास का अत्यंत महत्त्व है। यह आध्यात्मिक जागृति का महापर्व माना जाता है। इसके माध्यम से स्व-पर साधना का उत्तम अवसर प्राप्त होता है। यही कारण है कि वर्षावास मुनिचर्या का अनिवार्य अंग है।

द्वादशवें अध्याय में वर्षावास सम्बन्धी विविध पहलुओं पर विचार किया गया है। इसमें वर्षावास का अर्थ विश्लेषण करते हुए मुख्यतया वर्षाकाल की स्थापना कब और कैसे, वर्षावास में विहार का निषेध क्यों, वर्षावास योग्य स्थान कैसा हो, वर्षावास का ऐतिहासिक आधार क्या है, विविध संदर्भों में वर्षावास की प्रासंगिकता, वर्षा योग धारण एवं समापन विधि इत्यादि विषयों पर शास्त्रीय चर्चा की गई है।

त्रयोदसवाँ अध्याय विहार चर्या से सम्बन्धित है। विहार चर्या जैन मुनियों का एक आवश्यक कृत्य है। आगम शास्त्रों में शारीरिक शक्ति के अनुसार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मासकल्प आदि का पालन करते हुए विहार करने का स्पष्ट उल्लेख है।

वर्णित अध्याय में विहारचर्या सम्बन्धी विधि-नियमों पर प्रकाश डालते हुए सामान्य रूप से विहार का अर्थ, उसके प्रकार, विहार चर्या की आवश्यकता एवं प्रयोजन, पाद विहारी मुनि के प्रकार, एकाकी विहार निषेध के कारण, एकाकी विचरण सम्बन्धी दोष, गीतार्थ मुनियों के एकाकी विहार के हेतु आदि अनेकशः विधि नियमों की सम्यक विवेचना की गई है।

पाँच समिति साधु चर्या के निर्दोष पालन का अभिन्न अंग है। इस आचार विधि के अन्तर्गत उच्चार प्रस्रवण परिष्ठापन नामक पाँचवीं परिष्ठापनिका समिति का विधियुक्त पालन किया जाता है।

चतुर्दशवें अध्याय में पाँचवीं परिष्ठापनिका समिति की चर्चा स्थण्डिल विधि के रूप में की गई है। इसमें स्थण्डिल के अर्थ को स्पष्ट करते हुए मल-मूत्र आदि का विसर्जन करने हेतु 1020 प्रकार की स्थण्डिल भूमियों का प्रतिपादन किया है। उनमें मात्र एक प्रकार की भूमि ही शुद्ध बताई गई है। इसी के साथ स्थण्डिल भूमि के अन्य प्रकार, आपात युक्त स्थण्डिल भूमि, संलोक युक्त स्थंडिल भूमि, अशुद्ध स्थण्डिल भूमि के दोष, स्थण्डिल गमन का काल, भूमि निरीक्षण, स्थण्डिल भूमि के कृत्य आदि अनेक विषयों को प्रस्तुत किया गया है।

इस कृति का अन्तिम अध्याय महापरिष्ठापनिका विधि अर्थात अन्तिम संस्कार विधि से सन्दर्भित है। मृत्यु संसारी प्राणी के लिए एक अटल सत्य है। मृत्यु का भय दुनिया में सबसे बढ़कर है किन्तु जो साधक संलेखना-समाधि द्वारा जीवन को सफल कर देता है वह आनंद मनाते हुए मृत्यु का वरण करता है। यह जन्म-मरण की परम्परा का विच्छेदक है।

शास्त्रीय विधि पूर्वक मृत श्रमण देह का परिष्ठापन करना महापरिष्ठापनिका कहलाता है। **पंचदसवें अध्याय** में अन्तिम संस्कार विधि का निरूपण है।

पन्द्रह अध्यायों में विभाजित इस खण्ड लेखन का मूल हेतु श्रमणाचार के विविध पक्षों को जन सामान्य में उजागर करना है। श्रमणाचार जिनशासन का हृदय है। जैसे स्वस्थ एवं पूर्ण जीवन के लिए हृदय का स्वस्थ रहना आवश्यक है। वैसे ही समृद्ध एवं जीवंत जिनशासन के लिए श्रमणाचार का निराबाध एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरतिचार पालन तथा उसका वात्सल्यपूर्ण संवर्धन आवश्यक है। इस कृति में वर्णित अध्यायों के माध्यम से श्रावक एवं श्रमण वर्ग मुनि जीवन के सूक्ष्म पक्षों से परिचित हो पाएगा। वर्तमान के भौतिकता एवं आधुनिकता युक्त परिवेश में भी विशुद्ध संयम पालन की प्रेरणा प्राप्त होगी एवं जिनशासन रूपी सरिता की श्रमण धारा निराबाध रूप से प्रवाहित रहेगी।

खण्ड-6

जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन

संयमी जीवन की यात्रा विविध नियम मर्यादाओं का पालन करते हुए अनेक पड़ावों से होकर गुजरती है। मुनि के चारित्रिक जीवन का समुचित ढंग से निर्वाह हो सके एवं समस्त क्रियाएँ यथाविधि सम्पन्न की जा सके। इस हेतु इन मर्यादाओं एवं पड़ावों की विशिष्ट महत्ता है।

भिक्षाचर्या मुनि जीवन की एक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक क्रिया है। जब तक जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है आहार संज्ञा उसके साथ जुड़ी हुई है। कुछ समय के लिए वह भले ही आहार से निवृत्त या दूर रह जाए परंतु अंततोगत्वा निर्विघ्न जीवन यापन एवं संचालन के लिए उसे किसी न किसी रूप में आहार ग्रहण करना ही पड़ता है। आहार को मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता माना गया है। जन्म के साथ ही शिशु का पहला रूदन आहार के लिए ही होता है। आहार की इसी आवश्यकता को देखते हुए मुनि जीवन में निर्दोष एवं सात्विक आहार की प्राप्ति पर बल दिया है। गृहस्थ से याचना आदि के द्वारा आहार आदि की प्राप्ति कर अपनी उदर पूर्ति करना भिक्षाचर्या कहलाता है।

जैन मुनि के लिए भिक्षाचर्या का औचित्य– यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मुनि को भारतीय समाज में उच्च स्थान दिया गया है। वह विशाल मिनार की भाँति सभी के लिए परम आदर्श एवं अनुकरणीय होते हैं। दिग्गज विद्वान और धनाढ्य व्यक्ति भी उन संत पुरुषों की चरण रज को शीर्षस्थ करते हैं। इस सामाजिक प्रतिष्ठा के बाद भी अधिकांश साधुजन अपना जीवन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यापन भिक्षाचर्या के माध्यम से ही क्यों करते हैं? उनमें भी जैन मुनि की भिक्षाचर्या विधि अनेक नियम मर्यादाओं से युक्त है, ऐसा क्यों?

इसके समाधान में जैनाचार्य कहते हैं कि सर्वप्रथम तो संत जीवन का आदर्श साधना पर अवलम्बित है न कि दैहिक स्तर पर। मुनि जीवन एक निरपेक्ष एवं स्वावलंबी जीवन होता है क्योंकि स्वावलंबी व्यक्ति ही साधना की चरम स्थिति को स्पर्श कर सकता है। जैन मुनि के लिए जिस प्रकार की भिक्षाचर्या आगम शास्त्रों में निर्दिष्ट है वह उसके निरपेक्ष जीवन में सहायक बनता है। भिक्षाचर्या के कारण गृहस्थ वर्ग में भी मुनि जीवन के दायित्वों के प्रति जागृति बनी रहती है।

भिक्षाविधि का अनुसरण करने से आहार के प्रति आसक्ति का बंधन नहीं होता। आहार विजय का अभ्यास होता है एवं समत्ववृत्ति का बीजारोपण होता है। स्वादिष्ट एवं मनोनुकूल आहार की प्रवृत्ति पर अंकुश लग जाता है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि साधु को रूखा-सूखा जैसा भी भोजन मिले उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए। उसके मन में मात्र निर्दोष एवं सात्त्विक आहार के प्राप्ति की अभिलाषा होनी चाहिए। यदि वह स्वादिष्ट आहार खा ले और रूखा-सूखा त्यक्त कर दे तो निशीथसूत्र के अनुसार उस मुनि को दण्ड का विधान है।

जैन श्रमण की आहार ग्रहण विधि– जैन श्रमण अहिंसा का मूर्तिमान आदर्श होता है। संसार के समस्त जीवों के लिए वह हितकर एवं क्षेमंकर होता है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद वह त्रियोग एवं त्रिकरण पूर्वक समस्त जीवों की हिंसा का त्याग करता है। इस प्रतिज्ञा का यावज्जीवन परिपालन करते हुए अनवरत मोक्ष मार्ग की ओर प्रवृत्त रहता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अहिंसा प्रधान पंचयाम का आराधक मुनि इस देह यात्रा का निर्वहन किस तरह करता है? क्योंकि जब तक शरीर है तब तक उसका संपोषण आवश्यक है। श्रमण पाप क्रिया, क्रय-विक्रय का भी परित्यागी होता है। वह समस्त सावद्य वृत्तियों का भी त्यागी होता है। अपने उद्देश्य से निर्मित आहार आदि को भी ग्रहण नहीं करता फिर वह अपनी जीवन यात्रा का निर्वाह किस प्रकार करें यह एक विराट प्रश्न है।

जैनाचार्यों ने इसका समाधान देते हुए कहा है कि जिस प्रकार भ्रमर फूलों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से थोड़ा-थोड़ा रसपान करता है जिससे फूलों को पीड़ा नहीं होती और भ्रमर की तृप्ति भी हो जाती है। उसी प्रकार साधु भी गृहस्थों द्वारा अपने एवं कुटुम्बियों के लिए तैयार किए गए आहार में से थोड़ा- थोड़ा ग्रहण करता है जिससे गृहस्थों को किसी तरह की तकलीफ नहीं होती और उसके देह की परिपालना भी हो जाती है। साधु की इसी वृत्ति को माधुकरी वृत्ति कहते हैं। यह भिक्षाचर्या का श्रेष्ठ प्रकार है।

यह उल्लेखनीय है कि जैन मुनि उदर पोषक नहीं होता। वह खाने या स्वाद के लिए नहीं खाता। उसके आहार ग्रहण का भी कारण होता है और आहार त्याग का भी।

आहार ग्रहण क्यों? जैन ग्रन्थों में मुनि द्वारा आहार ग्रहण के छः कारण बताए गए हैं– 1. क्षुधा वेदना की शान्ति के लिए 2,. सेवा करने के लिए 3. ईर्या समिति का पालन करने के लिए 4. संयम के अनुष्ठान के लिए 5. प्राणों को धारण करने के लिए और 6. धर्म चिन्तन के लिए।

इसके विपरीत कुछ कारण ऐसे हैं जिनके उपस्थित होने पर मुनि आहार का परित्याग भी करते हैं। जैसे– 1. रोग आने पर 2. उपसर्ग आने पर 3. भूख शान्त होने पर 4. ब्रह्मचर्य रक्षार्थ 5. प्राणीदयार्थ और 6. शरीर व्युत्सर्गार्थ।

उक्त आगमिक उद्धरणों से ध्वनित होता है कि मुनि का आहार ग्रहण एवं आहार विसर्जन दोनों ही संयम अभिवृद्धि के लिए होता है।

वर्तमान संदर्भों में भिक्षाचर्या सम्बन्धी समस्याएँ– कई लोग आज की आधुनिक मनोवृत्ति में भिक्षाचर्या जैसी विधियों को अनौचित्यपूर्ण मानते हैं। आज कई संस्थाओं द्वारा तो भिक्षा के विरुद्ध आंदोलन भी चलाए जा रहे हैं क्योंकि आज भीख माँगने के नाम पर हजारों-लाखों बच्चों का अपहरण कर उन्हें अपाहिज बना दिया जाता है। वहीं कुछ लोगों द्वारा इसे एक व्यापार के रूप में भी चलाया जाता है। कई ऐसे लोग हैं जो साधुओं के नाम पर भिक्षा मांग कर समाज के लिए अभिशाप साबित हो रहे हैं। यह तथ्य सत्य है परंतु सभी को एक लाठी से नहीं हांका जा सकता।

भिक्षा नाम से तो क्रिया एक है परंतु मुनि द्वारा भिक्षा याचना में तथा एक भिखारी द्वारा भिक्षा याचना में बहुत अंतर है। मुनि कभी जबरदस्ती या गृहस्थ की अनिच्छा होने पर आहार ग्रहण नहीं करता। इसके विपरीत गृहस्थ स्वयं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहोभाव पूर्वक उन्हें आहार ग्रहण हेतु आमंत्रित करता है। दूसरी बात मुनि के आहार ग्रहण का कारण परिश्रम से बचना नहीं अपितु अहिंसा धर्म का परिपालन है।

आज की आधुनिक जीवन शैली में भिक्षा प्राप्ति एक बृहद समस्या है। Nuclear Family और नौ से पाँच ऑफिस के युग में मध्याह्न के समय भोजन प्राप्ति नहीवत हो पाती है। बढ़ती हुई महंगाई के कारण लोग अतिरिक्त आहार बनाने से बचते हैं। अतिथियों के आने पर भी प्राय: होटल, रेस्टोटेन्ट आदि में ही भोजन रखा जाता है। Bread Butter, Pizza, Maggi और Noodles जैसे Fast and easy खाद्य पदार्थ लोगों को अधिक प्रिय है। बासी, अभक्ष्य, जमीकन्द आदि का विवेक अधिकांश परिवारों में नहीवत रह गया है। साधु-साध्वियों को कैसा आहार बहराना चाहिए इसकी जानकारी भी आज के युवा वर्ग को नहींवत है। इन परिस्थितियों में मुनि अपने नियमों का निर्दोष रूप से पालन किस प्रकार करें? यह एक ज्वलंत प्रश्न है।

जैन मुनि के भिक्षाचर्या की महत्ता– यदि जैन मुनि की भिक्षाविधि पर चिंतन करें तो यह एक आदर्श वृत्ति है। इनके नियम-मर्यादाओं का गठन किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष के लिए नहीं हुआ है। मुनि गोचरचर्या या माधुकरी वृत्ति के द्वारा आहार ग्रहण करता है। इससे वह गृहस्थ वर्ग पर भारभूत नहीं बनता।

दीक्षा लेने से पूर्व मुनि चाहे धनाढ्य परिवार से हो या सामान्य परिवार से दीक्षा लेने के बाद वह सब बातें कोई महत्त्व नहीं रखती। सभी को समान रूप से मुनि जीवन के नियमों का पालन करना होता है। भिक्षागमन के द्वारा विशिष्ट ज्ञान, श्रेष्ठ पद, पारिवारिक पृष्ठभूमि का अभिमान नहीं होता। मुनि को सामाजिक परिस्थितियों का भी सम्यक ज्ञान होता है जिससे वह समाज को तदनुरूप मार्गदर्शन दे सकता है।

इस प्रकार ऐसे अनेक पक्ष हैं जिन अपेक्षाओं से मुनिवर्ग के लिए भिक्षाचर्या एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। प्रस्तुत खण्ड में भिक्षाचर्या सम्बन्धी विविध नियम-उपनियमों की चर्चा की गई है। वर्तमान संदर्भों में उसके औचित्य आदि पर भी विचार किया है। भिक्षाचर्या के विभिन्न घटकों पर विचार करते हुए इस खण्ड को सात अध्यायों में वर्गीकृत किया गया है।

भिक्षा मुनिचर्या का एक आवश्यक अंग है। इसी कारण श्रमण का अपर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाम 'भिक्षु' है। जैन मुनि भिक्षा के माध्यम से ही अपना जीवन निर्वाह एवं संयम साधना करते हैं। भिक्षाचर्या के लिए गोचरी, मधुकरी, कापोती वृत्ति, उच्छवृत्ति, एषणा, पिण्डैषणा आदि शब्दों का भी व्यवहार होता है। जैन मुनि के लिए शुद्ध, सात्त्विक एवं निर्दोष आहार ही कल्प्य माना है। विविध अभिग्रह एवं नियमों का पालन करते हुए मुनि को आहारार्थ जाना चाहिए।

प्रस्तुत **प्रथम अध्याय** में भिक्षाचर्या का अर्थ प्रतिपादन करते हुए भिक्षाचर्या के विविध पर्याय, भिक्षा प्राप्ति के प्रकार, भिक्षा गमन के प्रकार, भिक्षा के अन्य प्रकार, भिक्षाशुद्धि की नवकोटियाँ, भिक्षार्थी मुनि के लिए विविध उपमाएँ, आहार एवं आहार सेवन के प्रकार आदि पर प्रकाश डाला है।

इस अध्याय के माध्यम से पाठक वर्ग भिक्षाचर्या के विभिन्न घटकों से परिचित हो पाएगा।

द्वितीय अध्याय भिक्षाचर्या की उपयोगिता एवं उसके रहस्यों को प्रतिपादित करता है। भिक्षाचर्या संत समाज की एक मौलिक क्रिया है। भारतीय भिक्षुओं का जीवन निर्वहन मुख्य रूप से भिक्षा के माध्यम से ही होता है। भारतीय ऋषि मुनियों ने सोच-विचार पूर्वक इस विधि का निरूपण किया है। भिक्षाचर्या के कारण जहाँ मुनि एवं गृहस्थ वर्ग के बीच एक सम्बन्ध बना रहता है वहीं दूसरी तरफ ऋषि-मुनियों को साधना के लिए अनुकूल समय एवं परिस्थितियाँ प्राप्त होती है।

वर्णित अध्याय में भिक्षाचर्या की महत्ता को प्रतिपादित करने हेतु आहार ग्रहण के उद्देश्य, आधुनिक संदर्भों में भिक्षाटन की प्रासंगिकता, भिक्षाचर्या सम्बन्धी अन्य विधियों के हेतु बताए गए हैं। जैसे– मुनि शुद्ध और सात्त्विक आहार क्यों ग्रहण करें? उपाश्रय में प्रवेश करने से पूर्व पाँव प्रमार्जन क्यों? प्रथम भिक्षा हेतु शुभ दिन आवश्यक क्यों? भिक्षाचर्या सम्बन्धी आलोचना दो बार क्यों? श्रमण का आहार गुप्त क्यों? दिगम्बर मुनि द्वारा कर पात्री में ही भोजन क्यों? आदि विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है।

इस खण्ड के **तृतीय अध्याय** में वर्तमान युगीन भिक्षाचर्या के औचित्य एवं उसके नियमोपनियम विषयक वर्णन किया गया है। यदि वर्तमान संदर्भों में भिक्षाचर्या के औचित्य पर विचार करें तो आज अधिकांश वर्ग भिक्षाचर्या को अनुचित मानता है। आज की व्यस्त जीवन शैली में मुनि भिक्षाटन एक समस्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिभासित होता है। प्रस्तुत अध्याय में भिक्षाचर्या नियामकता को दर्शाने हेतु भिक्षाचर्या योग्य मुनि के लक्षण, शुद्ध पिण्ड का अधिकारी कौन? आहार ग्रहण का परिमाण, अवशिष्ट आहार की व्यवस्था विधि, आहार दान का अधिकारी कौन? आहार दान सम्बन्धी सावधानियाँ, भिक्षाचर्या सम्बन्धी मर्यादाएँ, भिक्षाचर्या से सम्बन्धित आवश्यक नियम, भिक्षाचार्य के निषिद्ध-अनिषिद्ध स्थान, दिगम्बर मुनि किन स्थितियों में आहार ग्रहण करें? आधुनिक युग में भिक्षाचर्या का औचित्य एवं अनौचित्य आदि विविध विषयों पर विचार किया है।

जैन मुनि की भिक्षाचर्या अति सूक्ष्म गवेषणात्मक प्रक्रिया है। मुनि को किस प्रकार, कैसा आहार ग्रहण करना चाहिए और किसका त्याग करना चाहिए? आदि अनेक प्रकार का वर्णन जैन साहित्य में प्राप्त होता है। जैन ग्रन्थों में मुनि के आहार सम्बन्धी 42 दोष बताए गए हैं। **चतुर्थ अध्याय** में आहार सम्बन्धी इन्हीं 42 दोषों के मुख्य प्रकार, भिक्षाचर्या सम्बन्धी अन्य दोष, आहार शुद्धि के अभाव में लगने वाले दोष, आहार ग्रहण एवं विसर्जन के प्रयोजन आदि विषयक चर्चा की है।

पंचम अध्याय भिक्षाचर्या की विधि एवं उपविधियों से सन्दर्भित है। आहार शरीर की मूलभूत आवश्यकता है।

तीन प्रकार के आहार में से कोई न कोई आहार जीव प्रति समय ग्रहण करता है। साधु संत भी निर्विघ्न साधना हेतु आहार की गवेषणा करते हैं।

साधु कैसा आहार ग्रहण करे? आहार प्राप्ति के लिए किस प्रकार गमन करे? किस विधिपूर्वक आहार प्राप्त करे? आहार ग्रहण करते समय लगे दोषों की आलोचना किस विधि से करे? आदि विंषय उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन्हीं भिक्षा विधियों का निरुपण किया गया है। भिक्षागमन करने के पूर्व से लेकर आहार ग्रहण, अधिक आहार का परिष्ठापन, पात्र धोवन आदि विषयक जितनी भी विधियाँ है उन सभी का यहाँ विस्तृत विवेचन किया है।

षष्ठम अध्याय में भिक्षा चर्या का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अनुसंधान करते हुए आद्योपरान्त वर्णन किया है।

पूर्वकाल से ही प्राज्ञ पुरुषों ने आहारशुद्धि को प्राथमिकता दी है। श्रमण परम्परा में जैन मुनि के लिए आहार शुद्धि अत्यावश्यक मानी गई है। अतः उनके लिए शुद्ध, सात्विक, निर्दोष एवं प्रासुक भिक्षा की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का निर्देश है। इसी कारण जैन मुनि की भिक्षाचर्या अनेकविध नियमों से प्रतिबद्ध है। आगम एवं आगमेतर साहित्य में इसकी विशद चर्चा प्राप्त होती है। उसी का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन इस छठे अध्याय में किया गया है।

सप्तम अध्याय उपसंहार रूप में वर्णित है। इसमें भिक्षाचर्या एवं सातों अध्याय का सारभूत स्वरूप वर्णित किया है।

इस कृति का मुख्य ध्येय भिक्षाचर्या के विविध घटकों से जन सामान्य को परिचित करवाना है। आज की मोर्डन युवा पीढ़ी इन सभी तथ्यों से दूर होती जा रही है। मुनि कौन होते हैं? उनके आचार नियम क्या है? संयम जीवन आज क्यों उपादेय एवं महत्त्वपूर्ण है? आदि सारभूत पक्षों की ही उन्हें जानकारी नहीं है। इस ज्ञान अभाव में जैन धर्म का विकास एवं विस्तार एक प्रश्न चिह्न है? इसके माध्यम से आम जनता जैन प्रणाली के सूक्ष्म तथ्यों से परिचित हो सकेगा।

खण्ड-7

पदारोहण सम्बन्धी विधि रहस्यों की मौलिकता आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

भारतीय संस्कृति मूलतः व्यक्तिमूलक संस्कृति है। इसमें प्रत्येक आत्मा की व्यक्तिगत स्वतंत्रता स्वीकार की गई है। व्यक्ति स्वयं ही अपने कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता है। जैन सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक आत्मा की स्वतंत्र सत्ता है, अस्तित्व है। वह अपनी ही शक्ति द्वारा स्वयं संचालित होती है। उसकी व्यवस्था अपने आप में निहित है। तभी प्रत्येक आत्मा स्वयं परमात्मा है।

स्वतंत्रता का यथार्थ मूल्यांकन धार्मिक जगत में ही संभव है क्योंकि धर्म आराधना सदा स्वेच्छापूर्वक ही होती है। मन की स्वतंत्रता अर्थात बाहरी औपचारिक बन्धनों से मुक्ति किन्तु नैसर्गिक या प्राकृतिक मर्यादाओं का स्वीकार। कानून बाहरी बंधन है। धार्मिक नियम कानून नहीं है, कारण कि वे बलपूर्वक या जबरदस्ती किसी पर लादे नहीं जा सकते। धर्म आराधक स्वयं उन्हें अंगीकार करता है।

इस भारत देश में गणतन्त्र एवं जनतन्त्र की व्यवस्था है। विवक्षा भेद से वह बन्धन रूप है। अनेक शासकों द्वारा संचालित राज्य व्यवस्था गणतंत्र कही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाती है तथा जनता का राज्य से जनतंत्र कहलाता है। स्वतंत्रता के दृष्टिकोण से जनतंत्र अधिक विकासशील है। स्वतंत्रता का मूल्य सर्वोपरि हैं क्योंकि इसके गर्भ में ही आध्यात्मिक चेतना का उद्‌भव होता है परंतु इस स्वतंत्रता के साथ अनुशासन भी परम आवश्यक है। अनुशासन यह किसी भी व्यवस्था का मूलभूत तत्त्व होता है। चाहे आध्यात्मिक व्यवस्था हो, सामाजिक व्यवस्था हो या राजनैतिक व्यवस्था, बिना अनुशासन के वह सभी चरमरा जाती है।

राज्य संचालन का मूल मंत्र शक्ति है जबकि धर्म जगत के संचालन का मूल मन्त्र है पवित्रता। जहाँ शक्ति है वहाँ संघर्ष होगा और जहाँ पवित्रता है वहाँ हृदय की शुद्धि।

हृदय की निर्मलता के साथ जिस व्यवस्था को स्वीकार किया जाता है वह धर्मानुशासन या आत्मानुशासन है तथा जहाँ पर नियम-मर्यादाओं का स्वीकार जोर जबरदस्ती पूर्वक हो वह राज्यानुशासन है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने अनुशासन के मूलभूत दो प्रयोजन स्वीकार किये हैं। पहला आध्यात्मिक शुद्धि और दूसरा सामुदायिक व्यवस्था।

इनमें से एक नैश्चयिक पक्ष है और दूसरा व्यावहारिक। जीवन पर्यन्त के लिए पंच महाव्रतों का स्वीकार करना नैश्चयिक अनुशासन है वही संघीय आत्मोत्कर्ष के लिए आचारमूलक नियमों का प्रतिष्ठापन करना एवं इन्हें प्रायोगिक बनाना व्यावहारिक अनुशासन है।

पदव्यवस्था के माध्यम से अनुशासकीय प्रणाली निरन्तर ऊर्ध्वगामी बनती है। विभिन्न पदों के माध्यम से ही नियमबद्ध अनुशासन प्रणाली को आचरण में लाया जाता है।

यदि व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार करें तो किसी भी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उसमें संगठनात्मक व्यवस्था का होना अनिवार्य है। साथ ही उसके उन्नयन हेतु आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना भी अत्यंत आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति में पद व्यवस्था– भारतीय संस्कृति की अपेक्षा से विचार करें तो मूल रूप से इसकी दो धाराएं रही है। उन्हीं दोनों के आधार पर सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता का नियमन हुआ है। वैदिक संस्कृति लौकिक एवं बाह्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मकाण्ड प्रधान होने से वहाँ किसी सुगठित संघ व्यवस्था का अभाव देखा जाता है।

श्रमण संस्कृति तप-त्याग प्रधान संस्कृति है। इसका मूल लक्ष्य गृह त्याग कर संन्यास धर्म का पालन करना है। इस परम्परा में धर्म संघ की समुचित व्यवस्था की गई है। व्यवस्था की अपेक्षा से ही धर्म संघ को चार भागों में विभाजित किया गया है- 1. श्रमण, 2. श्रमणी, 3. श्रावक, 4. श्राविका। इनमें भी श्रमण-श्रमणी को इस व्यवस्था का आधार स्तंभ माना गया है। अत: इन दोनों संघों में ही विशेष रूप से पदव्यवस्था का सूत्रपात हुआ है।

जैन संघ में पद व्यवस्था का विकास– जहाँ तक भिक्षु संघ की पदव्यवस्था का प्रश्न है उनमें भगवान महावीर के समय मात्र गणधर पद की व्यवस्था देखी जाती है। उस युग में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक आदि के नामोल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं। गणधर ही श्रमण-श्रमणी संघ की समुचित व्यवस्था देखते थे। जहाँ तक श्रमणी संघ में पदव्यवस्था का प्रश्न है उसमें श्रमणी संघ का दायित्व प्रथम शिष्या चंदनबाला को सौंपा गया परन्तु उन्हें किसी पद पर नियुक्त किया गया हो ऐसा उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं होता। अत: उस समय में मात्र गणधर पद की ही व्यवस्था थी यह सुसिद्ध है। इसके अनन्तर ज्यों-ज्यों साधु-साध्वी की संख्या में वृद्धि होने लगी त्यों-त्यों प्रशासनिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए विभिन्न पद व्यवस्थापकों या संचालकों की आवश्यकता महसूस होने लगी और तदनुरूप अनेक पदों का सृजन भी हुआ।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर श्वेताम्बर श्रमण संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक, गणी आदि सात पदों का उद्भव हुआ। इन पदों का नामोल्लेख आचार चूला आदि में प्राप्त होता है। दिगम्बर संघ में आचार्य एवं उपाध्याय पदों का ही उल्लेख मिलता है। वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा में गणधर एवं गणावच्छेदक पद को छोड़कर शेष की परम्परा यथावत देखी जाती है। पन्यास, पण्डित आदि अतिरिक्त पदों का समावेश वर्तमान परम्परा में हो गया है।

साध्वी समुदाय में पूर्वकाल से प्रवर्त्तिनी, अभिषेका, भिक्षुणी, स्थविरा, क्षुल्लिका, महत्तरा, गणिनी, गणावच्छेदिनी, प्रतिहारी आदि पदों का उल्लेख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिलता है। दिगम्बर संघ में थेरी और गणिनी ये दो पद ही प्राप्त होते हैं। वर्तमान में प्रवर्त्तिनी, महत्तरा एवं गणिनी ये तीनों पद ही प्रचलित है।

इन पदों का मूल उद्देश्य धर्म प्रभावना, संयम मार्ग की सुदृढ़ परिपालना एवं अनुशासन बद्धता ही रहा है। इसी के साथ इन पदों के माध्यम से समस्त चतुर्विध संघ का सुचारु संचालन हो सकता है।

यदि श्रावक-श्राविका समुदाय की अपेक्षा विचार करें तो यहाँ धार्मिक संघों में कोई पदव्यवस्था परिलक्षित नहीं होती। सामाजिक स्तर पर राजा, मंत्री, सेनापति राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, नगरसेवक, सरपंच आदि पदों की व्यवस्था अवश्य है।

खंड-7 का लेखन कार्य जन सामान्य को अनुशासन आदि का सही स्वरूप समझाने एवं जिनधर्म की पदव्यवस्था को प्रचलित करने के उद्देश्य से किया गया है। आज के समय में बढ़ती हुई पद लालसा, तद्‌निमित्त होते द्वंद आदि को एक नई दिशा देने में भी यह अध्याय सहयोगी साबित होगा। प्रस्तुत शोध खण्ड की गवेषणात्मक एवं समीक्षात्मक शोध सामग्री को ग्यारह अध्यायों में विभाजित किया है जो इस प्रकार हैं–

पद व्यवस्था संघ संचालन का परम आवश्यक अंग है। धर्म संघ का अनुशासन बद्ध सम्यक संचालन, नूतन आगंतुकों के मार्गदर्शन एवं अन्य सदस्यों के कुशल सम्पादन हेतु पद व्यवस्था आवश्यक है। इस पद व्यवस्था का सम्पादन हमें आगम युग से ही प्राप्त होता है।

प्रथम अध्याय में पद व्यवस्था के उद्‌भव एवं विकास की चर्चा करते हुए मुनिपद व्यवस्था की दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणि, गणधर, गणावच्छेदक आदि तथा साध्वी पद की दृष्टि से श्रमणी भिक्षुणी, निर्ग्रन्थिनी, आर्यिका, क्षुल्लिका, गणिनी, महत्तरा, अभिषेका, प्रतिहारी, स्थविरा आदि की सामान्य परिभाषाएँ बताई गई हैं।

इस अध्याय का लक्ष्य पदस्थापना विषयक विशद चर्चा करने से पूर्व जिनशासन में प्रचलित-अप्रचलित पदों की जानकारी देना है।

द्वितीय अध्याय में वाचना दान एवं वाचना ग्रहण विधि का मौलिक स्वरूप बताया गया है।

वाचना जैन परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है। योगवाही अथवा योग्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिष्य को आगम पढाना, सूत्रार्थ प्रदान करना आदि वाचना दान कहलाता है। शिष्य के द्वारा गुरुमुख से विधिपूर्वक सूत्रार्थों का ग्रहण करना वाचना ग्रहण कहलाता है। इस परम्परा के माध्यम से आगम एवं आगम तुल्य ग्रन्थों का बहुमान एवं उत्कीर्तन होता है। शिष्य और गुरु का सम्बन्ध भी सुदृढ़ बनता है। आगम ज्ञान की परम्परा प्रवर्तमान रहती है।

वर्णित अध्याय में वाचनादान का अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट करते हुए वाचनादान के योग्य कौन? वाचना के आदान-प्रदान से होने वाले लाभ? योग्य शिष्य को वाचना देने के लाभ? अयोग्य को वाचना देने पर लगने वाले दोष? वाचना दान एवं ग्रहण के अपवाद, वाचना के प्रकार, सूत्रपाठ आदि सीखने हेतु वाचना का महत्त्व, अविधिपूर्वक वाचना दान एवं ग्रहण के दोष, वाचना दान की विधि आदि अनेक पक्षों पर इस अध्याय में शास्त्रोक्त मंतव्य दिया गया है।

इससे वर्तमान में सीमित होती वाचना विधि को एक नई दिशा प्राप्त होगी।

इस खण्ड के **तृतीय अध्याय** में पद व्यवस्था की क्रमिकता को ध्यान में रखते हुए प्रवर्त्तक पदस्थापना विधि का मार्मिक स्वरूप बताया है।

प्रवर्त्तक जैन पद व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण पद है। तप, संयम, वैयावृत्य आदि श्रेष्ठ कृत्यों में मुनियों को प्रवृत्त करने वाला प्रवर्त्तक कहलाता है। आचारचूला में निर्दिष्ट पद व्यवस्था के अनुसार प्रवर्त्तक पद का तीसरा स्थान है।

इस अध्याय में प्रवर्त्तक शब्द का अर्थ एवं परिभाषा बताते हुए प्रवर्त्तक पदधारी की योग्यता एवं तद्योग्य मुहूर्त्त की चर्चा की है। इसी क्रम में प्रवर्त्तक पद स्थापना विधि एवं इसका ऐतिहासिक विकास क्रम भी बताया है।

जिनशासन में स्थविर का गौरवपूर्ण स्थान माना गया है। कुछ आचार्यों ने स्थविर को भगवान की उपमा से अलंकृत किया है। अनुभव, वय एवं ज्ञान की दृष्टि से मुनि को स्थविर कहा जाता है। जो मुनि ज्ञान आदि की आराधना में अवसन्न या शिथिल हो जाते हैं उन्हें क्रियाओं में पुनः स्थिर करने का कार्य स्थविर ही करते हैं।

चतुर्थ अध्याय में स्थविर शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए स्थविर के प्रकार, स्थविरों के प्रति करणीय कृत्य, स्थविर-स्थविर कल्प एवं स्थविकल्पी का अर्थ, स्थविर पद के लिए आवश्यक योग्यता, शास्त्रानुसार स्थविर पदस्थापना विधि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का ऐतिहासिक विकास क्रम आदि विषयों पर तात्त्विक चर्चा की है।

पंचम अध्याय गणावच्छेदक पद स्थापना विधि से सम्बन्धित है। यद्यपि वर्तमान में गणावच्छेदक पद की व्यवस्था समाप्त हो चुकी है। परन्तु श्रमण परम्परा में गणावच्छेदक एक महत्त्वपूर्ण पद है। श्रमण संघ का सुव्यवस्थित संचालन करने के लिए इस पद की आवश्यकता स्वीकारी गई है। यह मुनि संघ की प्रत्येक अपेक्षाओं को पूर्ण करने में सदैव तत्पर और उद्यमशील होते हैं। संघ की आन्तरिक व्यवस्थाओं का पूर्ण दायित्व इन्हीं पर होता है। शास्त्रों में संघीय कृत्यों को त्वरा से करने वाले एवं संयमी साधकों के लिए उपधि आदि उपकरणों की यथोचित व्यवस्था करने वाले गीतार्थ मुनि को गणावच्छेदक कहा है।

वर्णित अध्याय में गणावच्छेदक शब्द का प्राचीन स्वरूप व्याख्यायित करते हुए जैन संघ के लिए इस पद की मूल्यवत्ता का अंकन किया है। पूर्वोक्त अध्यायों के समान ही इस अध्याय में गणावच्छेदक पदस्थापना सम्बन्धी विविध पहलुओं पर विचार किया है।

इस खण्ड के **षष्ठम अध्याय** में गणी पद स्थापना विधि का सम्मुल्लेख किया गया है। गणि पद आचारचूला में निर्दिष्ट सात पदों में से पाँचवां पद है। गण का नायक गणि या गच्छाधिपति कहलाता है। वर्तमान में यह पद भिन्न अर्थ में रुढ़ है तथा इसे आचार्य की अपेक्षा निम्नकोटि का माना जाता है।

इस अध्याय में गणि शब्द की समीक्षा करते हुए गण धारण योग्य शिष्य की परीक्षा विधि, गणि पदस्थ के लिए आवश्यक योग्यताएँ, गणिपद की परम्परा का मौलिक इतिहास, नूतन गच्छाचार्य को हित शिक्षा दान जैसे अनेक विशिष्ट तथ्यों पर विचार किया गया है।

सप्तम अध्याय में उपाध्याय पद स्थापना विधि का विस्तृत प्रतिपादन करते हुए इस पद का वैज्ञानिक मूल्य उजागर किया गया है।

जैन पद व्यवस्था में उपाध्याय पद का विशिष्ट स्थान है। उपाध्याय को ज्ञान के अधिदेवता, संघ रूपी नन्दनवन के कुशल माली, ज्ञान रूपी वृक्ष का सिंचन करने वाले अधिनायक एवं आगम पाठों को सुरक्षित रखने वाले सुयोग्य शिल्पी कहा गया है। अज्ञानियों को ज्ञानदान करने का पुण्यतम कार्य उपाध्याय करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस अध्याय में उपाध्याय शब्द का विस्तृत अर्थ विश्लेषण करते हुए उपाध्याय के गुण, उपाध्याय पद का अधिकारी कौन हो सकता है? उपाध्याय ही सूत्र वाचना के अधिकारी क्यों? उपाध्याय पद की योग्यता किसमें है? उपाध्याय के अतिशय, उपाध्याय पद की आराधना से होने वाले लाभ? उपाध्याय का वर्ण हरा क्यों? विविध संदर्भों में उपाध्याय पद की उपयोगिता आदि कई महत्त्वपूर्ण विषयों का अनुशीलन इस अध्याय में किया है, जिससे सामान्य वर्ग उपाध्याय पद की सूक्ष्मताओं से परिचित हो सकें।

जैनधर्म का मूल मन्त्र अर्थात नवकार महामंत्र पंच परमेष्ठि का वाचक है। आचार्य, उपाध्याय एवं साधु इन तीन का गुरु में समावेश होता है। अरिहंत परमात्मा के साक्षात अभाव में आचार्य तीर्थंकर के ही प्रतिनिधि होते हैं। कहा भी जाता है "तित्थयर समो सूरि"– आचार्य धर्म संघ के मेढीभूत आलंबन होते हैं।

अष्टम अध्याय में आचार्य पद का विस्तृत विश्लेषण करने हेतु आचार्य के अर्थ, आचार्य के गुण, आचार्य की महिमा, आचार्य पद की उपयोगिता, आचार्य पद के अधिकारी कौन? आचार्य की आशातना के दुष्परिणाम आदि कई आवश्यक बिन्दुओं का अन्वेषण शास्त्रीय आधार पर किया गया है।

श्रमणी संघ में महत्तरा एक गारिमामय पद है। शास्त्रों में कर्तव्य बुद्धि से श्रमणी संघ का संचालन करने वाली वयादि की अपेक्षा प्रधान साध्वी को महागणी कहा गया है। यह साध्वी संघ में उपस्थित विविध समस्याओं एवं उनकी आवश्यकताओं का समाधान करती है।

पदस्थापना की इस विशद चर्चा के अन्तर्गत **नवम अध्याय** में महत्तरा पद के तात्त्विक स्वरूप का दिग्दर्शन करते हुए जिनशासन के लिए यह पद किस रूप में सार्थक है? इनका प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक उल्लेख किया गया है।

इसी के साथ आधुनिक संदर्भों में महत्तरा पद की उपयोगिता एवं तद्हेतु आवश्यक योग्यताओं का वर्णन करते हुए महत्तरा पद प्रदान करने हेतु शुभ मुहूर्त्त आदि विभिन्न घटकों की चर्चा भी की गई है।

दशम अध्याय में प्रवर्त्तिनी पद से सम्बन्धित अनेक पक्षों का सहेतुक निरूपण किया गया है।

अर्हत शासन में श्रमण संघ के लिए जैसे सात पदों की व्यवस्था है वैसे ही श्रमणी समुदाय में भी पाँच पदों के शास्त्रीय उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वप्रथम प्रवर्त्तिनी पद का संविधान है। जैन श्रमणी संघ में इन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आगम सूत्रों के अनुसार प्रवर्त्तिनी आचार्य स्थानीय सकल संघ की नायिका होती है। यह श्रमणी संघ का सम्यक संचालन, निश्रावर्ती साध्वी समुदाय को रत्नत्रय आदि की आराधना में सतत प्रवृत्त रखते हुए आचार्य कथित निर्देशों का समुचित पालन एवं धर्म संघ का उन्नयन करती है।

चर्चित अध्याय में प्रवर्त्तिनी पद का अर्थ, प्रवर्त्तिनी पद की उपादेयता, विविध दृष्टियों से प्रवर्तिनी पद की प्रासंगिकता, प्रवर्तिनी पद हेतु आवश्यक योग्यता, अयोग्य को प्रवर्तिनी पद पर स्थापित करने से लगने वाले दोष, प्रवर्त्तिनी पद के अधिकार एवं उसके अपवाद आदि अनेक आवश्यक तथ्यों की गवेषणा की गई है जिससे सकल संघ प्रवर्तिनी पद की गरिमा से परिचित हो पाएं।

इस खण्ड के अंतिम **एकादश अध्याय** में पदस्थापना के अनछुए एवं अद्भुत रहस्यों की जानकारी दी गई है। पदस्थापना के अन्तर्गत कई ऐसे विधि-विधान होते हैं जिनके रहस्यों से प्राय: जन समुदाय अपरिचित है। इस अध्याय के अन्तर्गत कई ऐसे ही प्रश्न उठाते हुए उनका समाधान किया गया है जैसे कि पदस्थापना से पूर्व केश लोच क्यों? पदग्राही मुनि पर वास निक्षेप क्यों? पदस्थापना के समय स्कन्धकरणी और कम्बल युक्त आसन देने के कारण, सूरिमन्त्र एवं घनसार से अक्षत अभिमंत्रण क्यों? आदि अनेक सूक्ष्म रहस्यगत विषयों का शास्त्रोक्त समाधान दिया गया है।

इस अध्याय लेखन का मुख्य ध्येय जनमानस में उत्पन्न होती शंकाओं को पूर्ण रूपेण शान्त करना है।

इस सातवें खण्ड पर शोध करने का मुख्य उद्देश्य वर्तमान में पदव्यवस्था के बिगड़ते एवं बदलते स्वरूप का उचित सम्पादन करना है। आज के युग में पद, सत्ता और सम्पत्ति के गर्व में उसका दुरुपयोग बढ़ता जा रहा है। इस कारण सामाजिक विकास के लिए गठित पद व्यवस्था से समाज को कोई लाभ नहीं हो पा रहा है। इन विषम परिस्थितियों में जैन आगमों में निर्दिष्ट पदव्यवस्था एवं उनके नियम-उपनियम का सार समझते हुए यदि उचित रूप से समाज विकास में उपयोग किया जाए तो एक सुव्यवस्थित शासन प्रणाली हमें प्राप्त हो सकती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खण्ड-8

आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय विश्लेषण

जैन आगम भारतीय साहित्य की अनमोल धरोहर है। जैन धर्म एवं दर्शन के प्रचार-प्रसार हेतु आगम साहित्य में निहित सिद्धान्तों का विशिष्ट योगदान रहा है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में वेद, बौद्धों में त्रिपिटक, ईसाईयों में बाईबल, सिक्खों में गुरु ग्रन्थ साहिब एवं मुसलमानों में कुरान का महत्त्व है। इन्हें पवित्र और पूज्य धर्मग्रन्थ माना जाता है उसी तरह जैन परम्परा में आगम शास्त्र पूज्य धर्मग्रन्थ हैं।

निर्ग्रन्थ धर्मसंघ में तीर्थंकरों के उपदेश को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। आगमों में उन्हीं उपदेशों का संकलन है। यद्यपि प्रायः सभी तीर्थंकरों के उपदेशों में एकरूपता रहती है एवं उनका सार तत्त्व भी एक ही है परन्तु देश, काल के अनुसार नियम मर्यादाओं में कुछ परिवर्तन होते हैं। इसी कारण वर्तमान प्रचलित आगमों में भगवान महावीर की वाणी का संकलन है। इन्हीं के आधार पर वर्तमान जैन संघ की व्यवस्था का संचालन होता है।

जैनागमों में मुख्यतया दो प्रकार का धर्म बतलाया गया है– श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। श्रुतधर्म के पालन द्वारा शास्त्रज्ञान एवं वस्तु तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का निश्चय होता है। चारित्र धर्म के सम्यक अनुपालन से साध्य रूप परमात्म तत्व की उपलब्धि होती है। योगोद्वहन इन दोनों धर्मों के क्रियान्वयन का सम्मिश्रित अनुष्ठान है। इसके माध्यम से श्रुत एवं चारित्र की युगपद आराधना होती है।

योगोद्वहन क्या और क्यों? मन, वचन और काया की समस्त चेष्टाओं को संयमित कर चित्त की एकाग्रता पूर्वक आगम शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना योगोद्वहन कहलाता है। जैन प्रणालिका के अनुसार आयम्बिल आदि तप एवं कायोत्सर्ग-खमासमण-वन्दन आदि क्रियाओं के साथ आचारांग आदि आगम शास्त्रों का अभ्यास करना योगोद्वहन है। इस योग साधना के माध्यम से रत्नत्रय की आराधना हो जाती है। ज्ञानार्जन का यह श्रेष्ठ एवं उत्तम मार्ग है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके द्वारा वीतराग वाणी को सम्यक प्रकार से आत्मस्थ किया जा सकता है।

आगम साहित्य जैन आचार और विचार की नींव है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में आगमों को गणधरों द्वारा रचित माना जाता है। परंतु दिगम्बर परम्परा के अनुसार वर्तमान में मूल अंग आगमों का विच्छेद हो गया है। इसी कारण वहाँ आगमों का अध्ययन नहीं किया जाता। उनके यहाँ षटखण्डागम, कषायपाहुड, तत्त्वार्थसूत्र आदि का ही अध्ययन किया जाता है।

श्वेताम्बर परम्परा में मुख्य रूप से तीन परम्पराओं का समायोजन होता है– मूर्तिपूजक, तेरापंथी एवं स्थानकवासी। तीनों ही परम्पराएँ अंग आगम के अध्ययन के लिए योगोद्वहन को आवश्यक मानती है। परंतु स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा में इसका तात्पर्य मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों को सम्यक दिशा में योजित करना ही माना है। जबकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में यह एक विशिष्ट प्रक्रिया है। प्रत्येक आगम के अध्ययन हेतु विशेष प्रकार का योग तप करवाया जाता है।

श्रावक आगम अध्ययन क्यों नहीं कर सकते? योगोद्वहन की यह क्रिया मात्र श्रमण वर्ग के लिए उपदिष्ट है क्योंकि गृहस्थ वर्ग को आगम अध्ययन का अधिकार नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि आगम मूलत: देव भाषा अर्थात प्राकृत भाषा में है। सूत्र रूप में निबद्ध होने से इसके छोटे सूत्रों में कई विस्तृत पक्षों का समावेश हो जाता है। इनके अध्ययन में अत्यधिक एकाग्रता, गुरुगम एवं शुद्धता की आवश्यकता है। गृहस्थ के लिए तीनों ही कठिन है। इन परिस्थितियों में वह सम्यक रूप से आगम वाक्यों को समझ नहीं सकता एवं कई बार भ्रान्त मान्यताएँ चित्त में स्थापित हो सकती है। उत्सूत्र प्ररूपणा भी हो सकती है। इसी के साथ आगम अध्ययन का एक क्रम एवं विधि होती है। स्वेच्छा से कभी भी किसी भी आगम का अध्ययन नहीं किया जा सकता। अत: श्रावक वर्ग के लिए आगम अध्ययन निषिद्ध है।

साधु-साध्वी के लिए भी तप पूर्वक आगम अध्ययन का विधान क्यों? कई बार मन में शंका उत्पन्न होती है कि साधु-साध्वी तो निरन्तर तप-जप-स्वाध्याय में संलग्न रहते हैं। फिर उनके लिए योगोद्वहन का विधान क्यों?

किसी भी वस्तु को ग्रहण करने से पूर्व तद्योग्य पात्रता होना अत्यंत आवश्यक है। जैसे सिंह के दूध को ग्रहण करने के लिए स्वर्णपात्र होना नितांत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जरूरी है। वैसे सर्वज्ञ परमात्मा की आप्तवाणी को जीवन में हृदयंगम करने हेतु त्याग, समर्पण, विनय, पूज्यभाव, लघुता आदि गुण होना अत्यंत आवश्यक है। यद्यपि योगोद्वहन का मूल हेतु श्रुताभ्यास है, परन्तु ज्ञान के साथ विनय एवं लघुता अत्यंत जरुरी है वरना कई बार अधिक ज्ञान अहंकार में परिवर्तित हो जाता है। ज्ञान का अजीर्ण हो जाता है। इस अनुष्ठान से तपाराधना, गुरुनिश्रा, सहधर्मी सेवा, स्वाध्याय आदि अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। आगम सूत्रों के प्रति बहुमान बढ़ता है। ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा होती है। मन, वचन, काया का निरोध एकाग्रता में कारणभूत बनता है। एकाग्रता पूर्वक किया गया ज्ञानार्जन चिरस्थायी एवं स्व-पर उपयोगी बनता है। तप करने से अन्य कई अनावश्यक कार्य स्वयमेव ही अल्प हो जाते हैं तथा व्यावहारिक प्रवृत्तियाँ भी कम हो जाती है।

लौकिक जगत की मान्यता है कि ज्ञानार्जन के समय पौष्टिक आहार लेना चाहिए जबकि योगवहन काल में ज्ञान के साथ तप करवाया जाता है, यह विपरीत वृत्ति क्यों?

अनुभूति के स्तर पर यदि विचार करें तो यह स्पष्ट है कि पौष्टिक आहार प्रमाद, आसक्ति, चंचलता आदि में वर्धन करता है। योगोद्वहन में जागरूकता एवं एकाग्रता दोनों ही आवश्यक है। जिस तरह के अन्न का सेवन किया जाता है जीवन वैसा ही बनता है। गरिष्ठ आहार का त्याग प्रमाद को दूर कर सजगता एवं जागृति बढ़ाता है तथा योगोद्वहन के मूल हेतु ज्ञानाभ्यास में सहायक बनता है।

योगोद्वहन काल में गुरु निश्रा परमावश्यक क्यों? विश्व की हर परम्परा में गुरु का स्थान सर्वोपरि माना गया है। यदि हम प्राचीन भारतीय संस्कृति पर दृष्टिपात करें तो जीवन की यौवन अवस्था गुरुकुल वास में ही बिताई जाती थी। बाह्य जीवन व्यवहार से निवृत्ति होने के कारण गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान सुगम्य होता था। गुरुजनों के अन्तरंग आशीष की प्राप्ति होती थी। गुरु निश्रा में रहने से गुरुजनों का अनुभव एवं परम्परा ज्ञान यह दोनों ही प्राप्त होते हैं। गुरु कृपा से कठिन ज्ञान भी सरल बन जाता है।

आधुनिक जगत में योगोद्वहन की प्रासंगिकता– मुनि जीवन में योगोद्वहन की आवश्यकता उसी तरह स्वीकारी गई है जैसे एक बच्चे के जीवन में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्कूल की जरूरत होती है। आज के समय में Computer और Internet पर हर ज्ञान उपलब्ध है। फिर भी हम बच्चों को स्कूल भेजते हैं क्योंकि जो माहौल, संस्कार एवं वातावरण स्कूल में उपलब्ध हो सकता है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकता। वैसे ही आगम शास्त्रों का ज्ञान ग्रहण करते समय जो मानसिक, वैचारिक एवं कायिक स्थिरता चाहिए वह गुरुनिश्रा में ही प्राप्त हो सकती है। जिनवाणी की उत्सूत्र प्ररूपणा न हो एवं सम्यक रूप से वह आचरण में आ सके तद्हेतु योगोद्वहन आवश्यक है।

योगोद्वहन के माध्यम से शिष्य के अंतर में ऋजुता, लघुता, सरलता आदि गुण विकसित किए जाते हैं। आज के युग में ज्ञान तो उत्तरोत्तर बढ़ा है किन्तु विनम्रता और सहिष्णुता घटती जा रही है। आज स्कूल और कॉलेजों में शिक्षकों का जो हाल है, जिस तरह का व्यवहार शिक्षकों के साथ किया जाता है, वह भारतीय समाज के लिए शर्मनाक है।

आज की इन परिस्थितियों में योगोद्वहन, ज्ञानार्जन के साथ गुरुजनों के विनय आदि की शिक्षा देता है। समाज में एक समुचित शिक्षण व्यवस्था (Education management) हेतु प्रेरणा देता है। भले ही आज योगोद्वहन मात्र एक पारम्परिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है। फिर भी अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में इसकी मूल्यवत्ता को नकारा नहीं जा सकता।

योगोद्वहन की इसी महत्ता को देखते हुए इस शोध कृति में मूलतः आगम शास्त्रों के अध्ययन सम्बन्धी विधि-विधानों की चर्चा की है। तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से परिशीलन करते हुए इस खंड को निम्नलिखित सात अध्यायों में वर्गीकृत किया है–

योगोद्वहन का सम्बन्ध मूल रूप से आगम अध्ययन से रहा हुआ है अतः **प्रथम अध्याय** में जैन आगमों से सम्बन्धित अनेक पक्षों का विवेचन किया गया है। आगम अर्थात आप्त वचनों का संकलन। जैन धर्म रूपी सुंदर प्रासाद आगम वचनों की नींव पर ही खड़ा है। जैन आचार, विचार एवं व्यवहार का प्रवर्त्तन इन्हीं के आधार पर किया गया है।

इस अध्याय में आगम शब्द का अर्थबोध करवाते हुए आगम के प्रकार, आगमों की मौखिक परम्परा का इतिहास, आगमों का विच्छेद कब से? आगमों की भाषा एवं उनके रचियता तथा आगमों का संक्षिप्त परिचय आदि पक्षों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशित किया है। इसके माध्यम से जन सामान्य को अपनी मूल पृष्ठभूमि का ज्ञान होगा।

जैन श्रुतागमों का ज्ञान जितना आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है उतने ही महत्त्वपूर्ण है उनके अध्ययन सम्बन्धी नियमोपनियम। उन्हीं में से एक नियम है अनध्याय काल। आगम शास्त्रों को आत्मस्थ करने के लिए जिन परिस्थितियों एवं जिस समय का निषेध किया गया है उनमें अध्ययन करना अनध्याय कहलाता है। अतः स्वाध्याय हेतु प्रतिषिद्ध काल अनध्याय काल है। जैनागमों में इसके 32 प्रकार बताए गए हैं। प्रस्तुत **द्वितीय अध्याय** में अनध्याय विधि पर आगमिक चिन्तन अभिव्यक्त किया गया है। यहाँ पर अनध्याय का अर्थ, अनध्याय के विविध प्रकार, अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करने के कारण, अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से लगने वाले दोष, अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने के आपवादिक कारण, अस्वाध्याय काल विषयक ऐतिहासिक अवधारणा आदि विविध घटकों पर चर्चा की गई है।

द्वितीय अध्याय के द्वारा अनध्याय काल का स्पष्ट स्वरूप समझने के बाद **तृतीय अध्याय** में स्वाध्याय विधि का प्रायोगिक स्वरूप प्रस्तुत किया है।

जैन धर्म में स्वाध्याय को ज्ञानोपासना का अनिवार्य अंग माना है। स्वाध्याय आत्म विशुद्धि का श्रेष्ठतम उपाय है। आगमों में स्वाध्याय को विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में परिभाषित किया गया है। सार रूप में प्रमाद का त्याग करके ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय है।

वर्णित अध्याय में स्वाध्याय विधि पर विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। मुख्यतया स्वाध्याय के प्रकार, स्वाध्याय का फल, स्वाध्याय आवश्यक क्यों? स्वाध्याय न करने के दोष, स्वाध्याय काल सम्बन्धी कुछ अपवाद, दिगम्बर परम्परा में स्वाध्याय काल सम्बन्धी मन्तव्य आदि विशिष्ट तथ्यों को उजागर करते हुए स्वाध्याय को भाव रोगों का चिकित्सक सिद्ध किया है।

चतुर्थ अध्याय में योगोद्वहन पर सुविस्तृत चर्चा की गई है। योगोद्वहन में योग और उद्वहन इन दो शब्दों का समावेश होता है। शाब्दिक दृष्टि से मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों को ऊर्ध्वाभिमुखी करना योगोद्वहन है।

चर्चित अध्याय में योगोद्वहन का अर्थ घटन करते हुए योग के प्रकार, योगवाही-योगप्रवर्तक गुरु एवं योगोद्वहन में सहायक मुनि के लक्षण प्रस्तुत है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी क्रम में योगोद्वहन योग्य वसति, क्षेत्र, उपकरण, काल, शुभ मुहूर्त्त निर्देश एवं सूचनाएँ दी गई है। इसी के साथ आगम अध्ययन सम्बन्धी अनेक शास्त्रीय पक्षों एवं विधि-नियमों का विश्लेषण करते हुए वर्तमान समय में इसकी उपयोगिता विषयक तथ्यों का उद्घाटन किया है।

पाँचवें अध्याय में योगोद्वहन सम्बन्धी मुख्य विविध विधियों का प्राचीन एवं प्रचलित स्वरूप बताया है। कार्य सम्पादन विधि किसी भी क्रिया का प्रमुख अंग होती है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए योगोद्वहन के समुचित सम्पादन में सहयोगी विधियों का विवेचन किया है। यहाँ पर क्रमश: योग प्रवेश विधि, योग नन्दि विधि, उद्देश सम्बन्धी विधियाँ, कालग्रहण विधि, काल नाश विधि, दांडीधर विधि, स्वाध्याय प्रस्थापना विधि, नोंतरा विधि, पाली पलटने की विधि आदि अनेक विधियों का सुविस्तृत वर्णन किया है। इसकी सहायता से योगोद्वहन सम्बन्धी सूक्ष्म विधियों का उपयोगी परिचय हो पाएगा।

इस खंड को आगे बढ़ाते हुए **षष्ठम अध्याय** में योग तप अर्थात आगम अध्ययन की शास्त्रीय विधि प्रस्तुत की है। आगम सूत्रों का अध्ययन करते समय किस आगम के अध्ययन के लिए कौनसा तप करना चाहिए तथा त्रियोग की पवित्रता रखने हेतु वंदन,कायोत्सर्ग आदि कितनी संख्या में करना चाहिए यह योगोद्वहन का मुख्य पक्ष है।

छठें अध्याय में आचारांग आदि ग्यारह अंगसूत्र, बारह उपांगसूत्र, छहछेद सूत्र, चार मूलसूत्र, प्रकीर्णकसूत्र ऐसे लगभग पैंतालीस आगमों के अध्ययन की तप विधि बतलाई है। इसी के साथ योगवाहियों की सुगमता के लिए तप यन्त्र भी दिया गया है।

इस खंड के अंतिम अध्याय में कल्पत्रेप विधि का सामाचारीगत अध्ययन किया है।

कल्पत्रेप योगवाही मुनियों का आवश्यक अनुष्ठान है। इसकी महत्ता को दर्शाते हुए विधिमार्गप्रपा में कहा गया है– 'जोगाय कप्पतिप्पं विणा न वहिज्जंति' अर्थात कल्पत्रेप के बिना आगम सूत्रों का योग वहन नहीं किया जाता। जिस क्रिया विशेष के द्वारा बाह्य शुद्धिपूर्वक दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तप की शुद्धि होती है वह कल्पत्रेप है। अर्जित आगम ज्ञान की यथार्थ फलश्रुति पाने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के लिए शुद्धि को आवश्यक माना है। प्रस्तुत अध्याय समस्त प्रकार की अशुचि को दूर करने की विधि का निरूपण करता है।

इस अध्याय में कल्पत्रेप का अर्थ, कल्पत्रेप किस दिन करें, कल्पत्रेप हेतु सामाचारीगत नियम, किन स्थितियों में कल्पत्रेप करें? इत्यादि विषयों का सम्यक निरूपण किया गया है।

यहाँ परिशिष्ट के रूप में योगोद्वहन सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के विशिष्टार्थ एवं रहस्यार्थ भी बताए हैं।

इस खण्ड लेखन का मुख्य उद्देश्य हमारी मौलिक एवं तात्त्विक विधियों को जीवंत रखना है। योगोद्वहन एक प्राचीन अध्ययन शैली होने के बाद भी वर्तमान संदर्भों में अत्यंत उपयोगी एवं सामाजिक उत्कर्ष के लिए एक सहायक तत्त्व है अत: इसका समुचित प्रचार-प्रसार एवं सम्पादन आवश्यक है। यह कृति अपने उद्देश्य में सफल होते हुए हमें अपने पारम्परिक ज्ञान प्राप्ति हेतु प्रेरित करेगी तथा समाज में सम्यक ज्ञान एवं ज्ञान प्रदाता गुरुजनों के स्तर को सुधारेगी यही आशा है।

समाहारत: द्वितीय भाग के पाँचों खण्ड मुनि जीवन के वैशिष्ट्य एवं उनके साधना बहुल जीवन को प्रस्तुत करते हैं। श्रमण जीवन की आचार संहिता पर आधारित इस द्वितीय भाग का मुख्य ध्येय भौतिकतावादी एवं भोगवाद के बीच योगमय जीवन की सार्थकता एवं आवश्यकता को सिद्ध करना तथा श्रमणाचार के विभिन्न पहलुओं से आम जनता को अवगत करवाते हुए श्रमण साधना को उच्च शिखर पर पहुँचाना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाग-3

जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्य रूप से चार भागों में वर्गीकृत किया है। उनमें से पूर्व दो भागों में हमने श्रावकाचार एवं श्रमणाचार के विविध पहलुओं का 9 विभिन्न खण्डों के माध्यम से विवेचित किया। तृतीय भाग को प्रमुखतया छः खण्डों में विभाजित किया जा रहा है। इस भाग में जैन सिद्धान्त महोदधि के उन रत्नों का स्वरूप प्रकट किया है जिनका सम्बन्ध श्रावक वर्ग एवं श्रमण वर्ग दोनों से रहा हुआ है।

जैन विधि-विधानों में कई ऐसी क्रियाएँ हैं जो समान रूप से दोनों वर्गों में समादरित एवं समाचरित है। कुछ का प्राबल्य श्रमण जीवन में अधिक है तो कुछ का श्रावक जीवन में, परंतु आवश्यकता दोनों ही वर्गों में रही हुई है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर तीसरे भाग को छः खण्डों में उपदर्शित करेंगे। इनके माध्यम से आज क्षीणता की कगार पर आ चुके विधि-विधानों को पुनर्जीवित कर चिरस्थायी बनाया जा सकता है।

खण्ड–9 तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन आगमों से अब तक।

खण्ड–10 प्रायश्चित विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यवहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्य के संदर्भ में।

खण्ड–11 षडावश्यक की उपादेयता भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में।

खण्ड–12 प्रतिक्रमण एक रहस्यमयी योग साधना।

खण्ड–13 पूजाविधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में।

खण्ड–14 प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में।

सर्वप्रथम नौवें खण्ड में जैन धर्म की प्राणभूत क्रिया तप का विवेचन किया है। तप से निर्मल हुई आत्मा अपने पाप कर्मों को गुरु के समक्ष स्वीकार कर उनका प्रायश्चित कर सकती है। अतः दसवें खण्ड में आत्म आराधना मूलक प्रायाश्चित विधि का वर्णन किया है। तदनन्तर ग्यारहवें अध्याय में श्रमण एवं श्रावक जीवन की महत्त्वपूर्ण दैनिक क्रिया षडावश्यक का विवेचन किया है। षडावश्यक की साधना भगवान महावीर शासन के अनुयायियों के लिए अनिवार्य बताई गई है। बारहवें खण्ड में षडावश्यक के अंग रूप प्रतिक्रमण का विवेचन किया है। प्रतिक्रमण यद्यपि षडावश्यक का ही अंग है परंतु अन्य पक्षों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की अपेक्षा इसका स्वरूप अधिक विस्तृत है। आज षडावश्यक प्रतिक्रमण नाम से प्रचलित हो गया है। तेरहवाँ खण्ड जिनपूजा के विविध पक्षों का वर्णन करता है। श्रावक वर्ग के जीवन में जहाँ द्रव्य पूजा का महत्त्व है वहीं श्रमण जीवन में भाव पूजा का। जिन पूजा के माध्यम से ही निज स्वरूप की प्राप्ति की जा सकती है। इस भाग के अंतिम चौदहवें खण्ड में प्रतिष्ठा-अंजनशलाका विधि का महत्त्वपूर्ण स्वरूप प्रस्तुत किया हैं। मूर्तिपूजक जैन संप्रदाय में प्रतिष्ठा एक सुप्रसिद्ध एवं लोकप्रिय विधान है। नव निर्मित मन्दिरों को पूर्णता इसी विधान के माध्यम से मिलती है। यह बृहद् स्तर पर आयोजित होने वाला जन मान्य विधान है।

उक्त विषयों पर शोध करने का ध्येय तत्सम्बन्धी मौलिक एवं तात्त्विक विधियों के रहस्यों से परिचित करवाना तथा इनके यर्थाथ स्वरूप को सलक्ष्य आचरण में लाना है।

खण्ड–9

तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन आगमों से अब तक

श्रमण संस्कृति में तपयोग का गौरवपूर्ण स्थान है। सन्त साधकों ने इसे तप प्रधान संस्कृति के नाम से उपमित किया है। तप कर्म श्रमण संस्कृति का प्राण है क्योंकि श्रमण ही तप साधना के मुख्य निर्वाहक होते हैं। तप यह श्रमण की पहचान है। कर्म निर्जरा का मूलभूत साधन है।

यदि जिन शासन में तप की महत्ता पर विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि जैन शासन का मूल तत्त्व तप है। जैन साधना का प्राण तत्त्व तप है। जैन वाङ्मय का मुख्य सत्त्व तप है। जिस तरह पुष्प की कली-कली में सुगंध समाहित है, तिल के दाने-दाने में द्रवता संचरित है, मिश्री के कण-कण में मधुरता सन्निविष्ट है उसी प्रकार जैन धर्म की प्रत्येक क्रिया में तप परिव्याप्त है।

निश्चयत: तप एक आध्यात्मिक शक्ति का स्रोत है। तपश्चरण के माध्यम से अधोवाहिनी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी किया जा सकता है। तीर्थंकर पुरुषों एवं पूर्वाचार्यों ने तप साधना के द्वारा जो उपार्जित किया वही आज नवनीत के रूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में हमारे समक्ष है। जैन परम्परा में आचरित तप का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें एक सुव्यवस्थित जीवन से लेकर मोक्ष प्राप्ति के सभी साधनों का समावेश हो जाता है।

बाह्य दृष्टि से तप का प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर परिलक्षित होता है। तप के द्वारा देह कृश, निर्बल एवं कमजोर दिखाई देता है। कई लोगों की मान्यता है कि तपश्चर्या शरीर पीडन की क्रिया है क्योंकि उपवास, आयंबिल आदि को ही मुख्य रूप से तप रूप में पहचाना जाता है। आर्य संस्कृति में तप को साधना का महत्त्वपूर्ण अंग माना है। तप को परिभाषित करते हुए भी प्राय: यही कहा जाता है कि जिस क्रिया के द्वारा तपा जाता है या शरीर को तपाया जाता है वह तप है। शास्त्रों में तपस्वियों के सम्बन्ध में वर्णन आता है– "सुक्खे-लुक्खे, निम्मंसे" अर्थात तपस्वी का शरीर तप के द्वारा लुखा-सुखा, मांस-रक्त रहित हड्डियों का ढ़ाँचा मात्र बन जाता है। तब प्रश्न उठता है कि तप का अर्थ मात्र शरीर को तपाना ही है?

यदि सूक्ष्मतापूर्वक विचार करें तो बाह्य रूप से तप भले ही शरीर तपाने की क्रिया प्रतिभासित होती है परंतु इसका मुख्य हेतु आत्मा को तपाकर शुद्ध बनाना है। जिस प्रकार दूध गरम करने के लिए तपेली को भी गरम करना पड़ता है, उसी तरह आत्मा से संलग्न कर्मों को तपाने के लिए शरीर को तपाना पड़ता है। चिंतकों के अनुसार 'तन जीते मन जीत' यदि काया को वश में कर लिया जाए तो मन स्वत: ही स्थिर बन जाता है।

जैन आगमों का आलोडन करें तो शरीर पीडन रूप उपवास आदि तप तो मात्र तपश्चर्या का एक प्रकार है। तप के मुख्य दो प्रकार माने गए हैं– 1. बाह्य तप और 2. आभ्यंतर तप। यद्यपि लोक व्यवहार में उपवास, एकासना आदि को ही तप संज्ञा प्राप्त है परंतु यथार्थत: आभ्यंतर तप बाह्य तप से अधिक कठिन है। इसी के द्वारा अहंकार, कषाय आदि तप्त होकर गल जाते हैं। शास्त्रों के अनुसार जिसका जैसा सामर्थ्य हो उसे वैसी आराधना करनी चाहिये। बाह्य तप इन्द्रियों के प्रति आसक्ति, स्वाद लोलुपता, शरीर राग को कम करता है वहीं आभ्यंतर तप आन्तरिक गुणों में वृद्धि करता है और आत्म निर्मलता को बढ़ाता है। इससे विनय, मार्दव, आर्जव आदि गुणों में वृद्धि होती है।

कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि आभ्यंतर तप से ही शुद्धि हो सकती है तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिर बाह्य तप की क्या आवश्यकता?

बाह्य एवं आभ्यंतर तप दोनों का अपना स्वतंत्र मूल्य है। दूसरी बात यह है कि जब तक प्रयोग द्वारा किसी क्रिया से न जुड़ा जाए तब तक हर किसी को भाव में रस आए यह आवश्यक नहीं क्योंकि भाव क्रिया एक ऊँची Stage है और संसारी मनुष्य के लिए द्रव्य आलंबन के बिना सीधा भावों से जुड़ना कठिन है। तीसरा तथ्य यह है कि जैसा बाहर होता है वैसे ही भाव अंदर भी आते हैं। बाहर में गरिष्ठ भोजन खाकर शरीर को हृष्ट-पुष्ट किया जाए और यह सोचें की आभ्यंतर शुद्धि रहेगी तो यह संभव नहीं है, क्योंकि आहार हमारे शरीर और मन दोनों को प्रभावित करता है। शारीरिक राग न्यून नहीं हो तब तक सेवा आदि कार्य भी नहीं हो सकते।

तप द्वारा देह दण्डन अहिंसक कैसे? कई लोगों का मत है कि तप द्वारा शरीर को कष्ट देना भी एक प्रकार की हिंसा है। तो फिर अहिंसा प्ररूपक जैन धर्म में तप की महत्ता कैसे?

इस प्रश्न के समाधान से पूर्व हिंसा या अहिंसा की सही परिभाषा समझना आवश्यक है। जिस कार्य के द्वारा किसी की आत्मा या शरीर पीड़ित हो वह हिंसा है, परन्तु तपस्या में इच्छापूर्वक कष्टों को सहन किया जाता है जो कि कर्म निर्जरा और देह आसक्ति को न्यून करने में हेतुभूत है। यह हिंसा की श्रेणी में नहीं आता। जिस प्रकार व्यापार के सीजन में दिन भर भूखा रहना भी कष्टप्रदायक नहीं लगता वैसे ही आत्मार्थी जनों को तप आदि की क्रिया देह दण्डन रूप न लगकर आनंददायक प्रतिभासित होती है।

तप साधना आवश्यक क्यों? यह प्रश्न प्रायः हर मन में उपस्थित होता है कि जब सभी धर्मों में आत्म विकास और भाव विशुद्धि के अनेक प्रकार बताए गए हैं उनकी प्राप्ति के लिए अनेक मार्गों का निरुपण किया गया है तो फिर तपश्चर्या को ही सर्वोत्तम स्थान क्यों दिया गया? साधकीय जीवन में तपोयोग आवश्यक क्यों?

इन बिन्दुओं पर यदि अनुशीलन करें तो यह ज्ञात होता है कि धर्म तप रूप है, बिना तप के धर्माचरण अधूरा है तथा धर्म बिना जीवन पशु तुल्य माना गया है। अहिंसा, संयम और तप का समन्वय होने पर ही धर्म की पूर्णता होती है। अहिंसा धर्मरूपी प्रासाद की नींव है तो तप उस प्रासाद का शिखर है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस प्रकार लौकिक जगत में स्वर्ण की परीक्षा विभिन्न प्रकार से की जाती है और उन परीक्षाओं में खरा उतरने पर ही उसे सच्चे सोने के रूप में स्वीकृत किया जाता है उसी तरह धर्म की परीक्षा तप आदि क्रियाओं के माध्यम से ही होती है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने तप की अनिवार्यता दर्शाते हुए कहा है-

नाणं पयासगं सोहओ तवो, संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हंपि समाओगे, मोक्खे जिणसासणे भणिओ।।

ज्ञान जगत के समस्त पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करता है। तप अनादिकाल से आत्मा पर रहे हुए ज्ञानावरणीय आदि अष्टकर्मों के आवरण को दूर करता है। यद्यपि सभी जीव कर्मों का भोग करते हुए प्रति समय शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा करते हैं परन्तु तप के माध्यम से जो निर्जरा होती है वह कर्म भोग की निर्जरा से कई गुणा अधिक होती है तथा संयम नए रूप में आने वाले कर्मों को रोकता है। शास्त्र वचन के अनुसार तप के द्वारा ही निकाचित कर्मों की निर्जरा हो सकती है।

तप साधना का प्रयोजन– जैनाचार्यों ने तप की महिमा को अद्‌भुत और अकाट्य बताया है। सम्यक तप के प्रभाव से अचिन्त्य लब्धियाँ, अनुपम ऋद्धियाँ और अपूर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती है। अज्ञानी जीव सांसारिक ऋद्धियों को प्राप्त करने हेतु तप करते हैं परन्तु शास्त्रकारों के अनुसार बाह्य सम्पदा या देवता आदि को प्रसन्न करने हेतु तप करना आम्र फल के महावृक्ष से लकड़ी की चाह करने के समान है। तप को तो आत्मशुद्धि के उद्देश्य से ही करना चाहिये। जैसे खेती करने पर धान्य के साथ भूसा आदि स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं वैसे ही तप के द्वारा भौतिक लब्धियाँ स्वयमेव ही प्राप्त हो जाती है।

जिस प्रकार घी खाया हुआ छिपता नहीं है वैसे ही किया हुआ तप भी छिपता नहीं है। तपस्वी के चेहरे पर स्वतः ही एक विशिष्ट तेज चमकने लगता है। उसकी वाणी में सिद्धि, प्रसन्नता में वरदान तथा आक्रोश में श्राप की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसके लिए उसे किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती। अतः तप करने का उद्देश्य मात्र कर्म निर्जरा एवं आत्म विशुद्धि ही होना चाहिए।

तप कामनायुक्त क्यों न हो? कई बार मन में प्रश्न उपस्थित होता है कि तप में इतने कष्टों को सहन करने के बाद उससे किसी प्रकार की अपेक्षा या कामना क्यों नहीं करनी चाहिए? इसके समाधान में जैनाचार्यों का मंतव्य है कि जैन धर्म सुखवादी धर्म नहीं मुक्तिवादी धर्म है। सुखवादी तो सिर्फ संसार के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुखों में उलझा रहता है लेकिन मुक्तिवादी धर्म के अनुसार सुख और दुःख दोनों ही बन्धन है। जीव प्रयत्नपूर्वक सुख की प्राप्ति तो कर लेता है लेकिन उसके उदय में मशगुल होकर पुनः नए पाप कर्मों का ही बंधन करता है। इससे शुभ कर्म क्षीण होकर अशुभ कर्मों का पुनः उदय प्रारंभ हो जाता है। सुख की कामना से तप करना दुख की महागर्त को आमंत्रित करने के समान ही है। तप के द्वारा भौतिक कामना करना अमृत के द्वारा कीचड़ से सने हुए पापों को धोने के समान है। कामनायुक्त किया गया तप मात्र स्वर्ग की प्राप्ति करवा सकता है वहीं कामना रहित तप मोक्ष की प्राप्ति करवाता है।

तप से होने वाले लाभ– कर्म शरीर को तपाने वाला अनुष्ठान तप कहलाता है। तीर्थंकरों के अनुसार तपस्या से आत्मा की परिशुद्धि होती है, सम्यक्त्व निर्मल बनता है तथा चेतना के स्वाभाविक गुणों का प्रकटीकरण होता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार 'तवेण वोदाणं जणयइ' अर्थात तप से जीव पूर्व संचित कर्मों का क्षय करके आत्मशुद्धि को प्राप्त करता है।

वैदिक दर्शन के अनुसार तप के द्वारा संसार की सर्वाधिक दुर्लभ वस्तुओं की प्राप्ति होती है। तप का मुख्य लाभ निर्वाण प्राप्ति है।

वर्तमान युग में तप की उपादेयता– आधुनिक समाज में तप को देह दण्डन के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस देह दण्डन को यदि कुछ ढीले स्तर में लिया जाए तो उसकी व्यावहारिक उपादेयता सिद्ध हो जाती है। जैसे व्यायाम के रूप में किया गया देह दण्डन स्वास्थ्य रक्षा एवं संचय में हेतुभूत बनकर व्यवहार के क्षेत्र में लाभप्रद सिद्ध होता है। वैसे ही तप के द्वारा व्यक्ति कष्ट सहिष्णु बनता है, शक्तियाँ विकसित होती है तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त होती है।

उपवास का अभ्यस्त व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों में भोजन प्राप्त न होने पर आकुल-व्याकुल नहीं होता। व्याकुलता शारीरिक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से हानिप्रद है। तपस्या के माध्यम से कष्ट सहिष्णु बनकर व्यक्ति सफलता की ऊँचाईयों को प्राप्त कर सकता है।

आधुनिक चिकित्सक एवं वैज्ञानिक इसकी उपादेयता को सिद्ध कर चुके हैं। प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति का मूल आधार उपवास, ऊनोदरी, रस परित्याग आदि बाह्य तप ही हैं। वर्तमान में प्रचलित Dieting, Boiled food, Veganism आदि किसी न किसी रूप में जैन शास्त्रों में वर्णित तप का ही रूप है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस शोध कार्य का उद्देश्य– तप की सार्वकालिक उपादेयता तो सर्वविदित है। व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर भी इसकी महत्ता को स्वीकार किया गया है। प्रायः हर धर्म में किसी न किसी रूप में इसे प्रमुखता भी दी गई है। फिर भी इसका मूल स्वरूप विकृत होता जा रहा है। आज के युवा समाज में तप के प्रति धारणाएँ बदल रही है। कई बार तो नियमित तप आराधक भी इसके मूल रहस्यों को नहीं समझ पाते।

सर्वप्रथम तो सबसे बड़ी भ्रान्ति जो समाज में देखी जाती है वह है मात्र उपवास आदि क्रियाओं को तप रूप मानना। दूसरी समस्या है तप के पीछे बढता अविवेकयुक्त आडम्बर। तप के महत्व से अनभिज्ञ लोग तपस्या के निमित्त होटलों में प्रीति भोज का आयोजन करते हैं। तपस्या के पीछे बढ़ते खर्च कई बार मध्यमवर्ग के लोगों को तपाचरण करने में बाधक बनते हैं। कई लोग तप के विभिन्न प्रकारों को नहीं जानते इस कारण वे सामर्थ्य एवं इच्छा होने पर भी समुचित तपाराधना नहीं कर पाते।

आज की ऐसी ही अनेक भ्रान्तियों का निवारण करने एवं पथभ्रमित जन समाज को सही दिशा देने का एक लघु प्रयास इस कृति के माध्यम से किया जा रहा है। तप विषयक समग्र पहलुओं पर मंथन करते हुए इसे सात अध्यायों में विभाजित किया है।

इस खंड के **प्रथम अध्याय** में तप का स्वरूप एवं उसकी विभिन्न परिभाषाएँ बतायी गयी हैं।

'तप' दो वर्णों का अत्यंत लघु शब्द है किन्तु इसकी शक्ति अचिन्त्य है। जैसे अणु छोटा होता है लेकिन उसकी शक्ति विराट है इसी तरह तप की शक्ति भी असीम और विराट है। पूर्वाचार्यों ने तप को अनेक दृष्टियों से व्याख्यायित किया है। यद्यपि उन व्याख्याओं में अर्थतः एकरूपता है किन्तु बोध की दृष्टि से नवीनता परिलक्षित होती है।

प्रस्तुत अध्याय में तप के स्वरूप को विश्लेषित करते हुए तप शब्द के विभिन्न अर्थ एवं उसकी परिभाषाएँ बताते हुए तप करने के अधिकारी, तपस्वी कौन? तप प्रारम्भ हेतु शुभ दिन, तप प्रारंभ से पूर्व की विधि, प्रत्येक तप में करने योग्य सामान्य विधि, तपस्या ग्रहण विधि आदि सामान्य विषयों का विश्लेषण किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके द्वारा आम समुदाय तप के शास्त्रीय स्वरूप एवं उसकी आचरण विधि से परिचित हो पाएगा।

द्वितीय अध्याय में तप के भेद-प्रभेद एवं प्रकारों का विस्तृत विवेचन किया है। तप कर्म निर्जरा का प्रमुख साधन है और प्रायः सभी परम्पराओं में मान्य है। इसी कारण इसके अनेक रूप भी परिलक्षित होते हैं। जैन परम्परा में बाह्य एवं आभ्यंतर ऐसे तप के मुख्य दो भेद किए गए हैं। इसके अन्तर्गत इसके विभिन्न भेद किए गए हैं। यथार्थतः तप के मूल स्वरूप में कोई अंतर नहीं है, तप किसी भी कोटि या श्रेणी का हो वह एकान्तर कर्मों की निर्जरा का ही कारण बनता है। इनमें रही हुई विभिन्नता दृष्ट-अदृष्ट, खाद्य-अखाद्य, सामान्य-विशेष पात्र आदि को लेकर है। साधक अपने सामर्थ्य के अनुसार यथेच्छ तप मार्ग का सेवन कर मुक्ति मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। वर्णित अध्याय में तप के बाह्य-आभ्यंतर भेदों का विस्तृत विवेचन किया है।

इसके माध्यम से तप के विविध पक्षों को सुगमता से समझा जा सकता है।

तप की गरिमा को उजागर करते हुए तप साधना की उपादेयता एवं महत्त्व का प्रतिपादन **तृतीय अध्याय** में किया गया है।

तप एक सार्वकालिक प्रक्रिया है। प्रत्येक समय में इसकी प्रासंगिकता एवं महत्ता लोक स्वीकृत रही है। चाहे अध्यात्म का क्षेत्र हो या विज्ञान का, चाहे भौतिक सुख समृद्धि हो या आत्मिक सम्पत्ति सबकी प्राप्ति का मार्ग तप ही है। शारीरिक स्वस्थता, मानसिक दृढ़ता, आन्तरिक सम्पन्नता के लिए तप श्रेष्ठ माध्यम है।

प्रस्तुत अध्याय में तप की मौलिकता को उजागर करने वाले सारगर्भित विषयों की चर्चा करते हुए तप की आवश्यकता क्यों? तप साधना का उद्देश्य, तप अन्तराय कर्म का उदय है या नहीं? आसन, ध्यान और प्राणायाम के साथ तप का सम्बन्ध, विविध दृष्टियों से तप साधना की मूल्यवत्ता, तप विधियों के रहस्य, आधुनिक युग में बढ़ता आडम्बर कितना प्रासंगिक? आदि विविध विषयों पर सटीक वर्णन किया गया है। यह अध्याय तप विषयक भ्रान्त मान्यताओं के समाधान एवं उसके महत्त्वपूर्ण घटकों को उजागर करने की अपेक्षा से रचा गया है।

चतुर्थ अध्याय जैन धर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में प्रचलित तप विधियों के स्वरूप से सम्बन्धित है।

आगम युग से अब तक जैन परम्परा में अनेक प्रकार के तप प्रचलित हैं। कुछ तप शाश्वत हैं जो हर काल में प्रवर्तित रहते हैं तो कुछ तप कालक्रम से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रचलन में आए। कुछ तपों की प्ररुपणा गीतार्थ आचार्यों ने देश-काल के अनुसार की और कई तप लौकिक एवं सामाजिक प्रभाव से भी जैन साधना में प्रविष्ट हुए। चर्चित अध्याय में मुख्यतया श्वेताम्बर परम्परा में प्रवर्तित तपों का सविधि एवं सोद्देश्य वर्णन करते हुए उनका मूल पाठ भी दिया है। सर्वप्रथम श्वेताम्बर ग्रन्थों में वर्णित तपश्चर्या सूची दी गई है। तदनन्तर तपों को मुख्य पाँच श्रेणियों में विभाजित करते हुए केवली प्ररूपित, गीतार्थ मुनियों द्वारा प्ररूपित, फल आकांक्षा से किए जाने वाले तप, अर्वाचीन परम्परा में प्रचलित लौकिक एवं लोकोत्तर तप का स्वरूप बताया है। अन्त में दिगम्बर परम्परा में प्रचलित विशिष्ट तपों का वर्णन किया गया है।

इसके माध्यम से तपाराधक विभिन्न तपों को जानकर समुचित तप मार्ग पर अग्रसर हो सकेंगे।

इस कृति के **पंचम अध्याय** में भारतीय परम्परा में प्रचलित व्रतों का सामान्य स्वरूप रेखांकित किया है। वैसे इस अध्याय में मुख्यतया हिन्दू, बौद्ध, ईसाई एवं इस्लाम धर्म के व्रतों एवं पर्वोत्सवों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

यह तथ्य हम कई बार उल्लेखित कर चुके हैं कि विभिन्न धर्म परम्पराओं में तप का विशिष्ट महत्त्व रहा हुआ है। भारतीय संस्कृति इसी कारण तप प्रधान संस्कृति कहलाती है। सभी परम्पराओं में व्रत और पर्वों को हमारी लौकिक एवं लोकोत्तर उन्नति का सशक्त साधन माना है। व्रताचरण के द्वारा मनुष्य को आदर्श जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। संकल्प शक्ति दृढ़ होती है तथा स्वास्थ्य लाभ की भी प्राप्ति होती है। धर्म प्रवर्त्तकों के द्वारा अनेक दृष्टियों से विविध आचारों का उत्कीर्तन किया गया है यह अध्याय इसी की पुष्टि करते हुए तप की सार्वभौमिक महत्ता को सिद्ध करता है।

उद्यापन (उजमणा) तप साधना से सम्बन्धित एक विशिष्ट क्रिया है। किये हुए तप का सम्यक प्रकार से अनुमोदन करना, उसे शोभित करना, कीर्तित करना उजमणा कहलाता है। उद्यापन क्रिया तप फल में वृद्धि करती है। तप पूर्ण होने पर उसके मंगल रूप उद्यापन को आवश्यक माना है।

उपाध्याय वीर विजयजी की यह पंक्तियाँ उद्यापन के स्वरूप का सुंदर दर्शन करवाती है–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उजमणाथी तपफल वाधे, इम भाखे जिनरायो
ज्ञान गुरु उपकरण करावो, गुरुगम विधि विरचायो रे
महावीर जिनेश्वर गायो...।

षष्ठम अध्याय में तप का ऐतिहासिक अनुशीलन एवं उसका तुलनात्मक पक्ष प्रस्तुत किया गया है। इसी के साथ तप को शोभित करने हेतु एवं तप पूर्णाहुति की अनुमोदना निमित्त किए जाने वाले उद्यापन महोत्सव का महत्त्व दर्शाया गया है।

इस खण्ड का समापन करते हुए **सप्तम अध्याय** उपसंहार रूप में प्रस्तुत किया है। इस अध्याय में तप को सार्वकालिक सिद्ध करते हुए आधुनिक समस्याओं, मनोविज्ञान, प्रबंधन, समाज आदि विविध परिप्रेक्ष्यों में तप की आवश्यकता को स्पष्ट किया है।

खंड-9 की शोध यात्रा के माध्यम से हम असत्य से सत्य, अंधकार से प्रकाश, मृत्यु से अमरत्व, तलहटी से शिखर की यात्रा करते हुए परमोच्च अणाहारी पद को उपलब्ध कर सकेंगे। क्योंकि ''भव कोडी संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ'' करोड़ों भवों के संचित कर्म तप से ही निर्जरित होते हैं।

खण्ड-10

प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में

जैन धर्म में आचार शुद्धि पर सर्वाधिक बल दिया गया है। व्यक्ति का आचार और विचार जितने शुद्ध होते हैं वह प्रगति पथ पर उतनी ही त्वरित गति से अग्रसर होता है। आत्म विशुद्धि प्रतिपल बढ़ती जाती है। जैनाचार्यों ने आचार पालन के बारे में अत्यंत सूक्ष्म निरूपण करते हुए कहा है कि स्वप्न में यदि कोई असत् क्रिया हो जाए तो उसका भी गुरु के समक्ष निवेदन करना चाहिए।

दसवें खण्ड में पाप निवेदन की विधि ही बतलाई गई है। भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही चित्त विशुद्धि एवं अपराधों की शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त ग्रहण की परम्परा रही है। जैन, बौद्ध और हिन्दू ग्रन्थों का अनुशीलन करें तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रायश्चित्त सम्बन्धी विधि-विधान अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। ईसाई परम्परा में पादरी के आगे Sin confettion की क्रिया एक प्रकार का प्रायश्चित्त ही है। मूलत: जिस क्रिया से चित्त विशुद्ध होता है अथवा जो आत्मशुद्धि का प्रशस्त हेतु है उसे प्रायश्चित्त कहा गया है।

जैनाचार्यों के अनुसार सामान्यत: गृहस्थ साधक द्वारा यथायोग्य व्रत एवं नियमों का पालन करते हुए तथा मुनि द्वारा परिस्थिति या प्रमादवश संयम साधना करते हुए अर्हत् प्ररूपित धर्म या मर्यादाओं का उल्लंघन हो जाए अथवा अकरणीय कार्यों का सेवन हो जाए तब संसार भीरू आत्माएँ उनका शीघ्रातिशीघ्र आलोचन कर लेती हैं।

प्रायश्चित्त आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन का आवश्यक अंग है। जिस प्रकार नदी-नालों में प्रवाहित नीर कई स्थानों के कूड़े-कचरे, मिट्टी आदि के मिश्रण से मलिन हो जाता है तब फिल्टर आदि यान्त्रिक साधनों के प्रयोग से उस जल को स्वच्छ एवं निर्मल किया जाता है। उसी प्रकार अनादिकाल से परिभ्रमण कर रही आत्मा मोह-मिथ्यात्व, विषय-कषाय आदि राग-द्वेषात्मक परिणतियों से दूषित है। आत्मार्थी साधक आलोचना एवं प्रायश्चित्त रूपी रसायन के द्वारा उसे निर्मल करके मोक्ष पथ पर आरूढ़ कर सकता है।

भगवान महावीर के शासनवर्ती गृहस्थ एवं मुनि को सामान्य पापों की आलोचना प्रतिदिन करनी चाहिए, क्योंकि काल दोष के प्रभाव से जाने-अनजाने में दुष्कर्मों का आसेवन हो जाता है। अत: जिस प्रकार रोगी औषध के साथ पथ्य का परिपालन करता है तभी आरोग्य की प्राप्ति होती है उसी प्रकार संयम, शील, व्रत आदि धर्माराधनाओं का धारक एवं सद्गति इच्छुक श्रावक धर्म अनुष्ठान रूपी औषध के साथ प्रायश्चित्त रूपी पथ्य का भी आसेवन करते हैं और यथार्थत: तभी वे चिरस्थायी मोक्ष सुख के उपभोक्ता बन सकते हैं।

प्रायश्चित्त का स्वरूप– 'प्रायश्चित्त' श्रमण संस्कृति का आधारभूत शब्द है। अध्यात्म मार्ग में लगने वाले दोषों से परिमुक्त होने के लिए जो दण्ड दिया जाता है, आगमिक भाषा में उसे प्रायश्चित्त कहा गया है। जैनाचार्यों ने भाव विशोधक एवं कर्म विनाशक क्रिया को प्रायश्चित्त कहा है। सार रूप में कहें तो जिससे संचित पापकर्म नष्ट होते हैं, जो चित्त का प्राय: विशोधन करता है और आभ्यंतर तप का प्रथम भेद रूप है, वह प्रायश्चित्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त के दस प्रकार बताये हैं। समस्त प्रकार के पापकर्म इन दस प्रकारों के आचरण से आत्म पृथक हो जाते हैं।

प्रायश्चित्त के समान आलोचना शब्द भी इसी संदर्भ में प्रयुक्त किया जा सकता है। अपने जीवन और साधना में जो भी दोष लगे हों उन दोषों या अपराधों को गुरु के समक्ष शुद्ध भाव से प्रकट करना आलोचना है। आलोचना स्व निंदा की प्रक्रिया है। स्वयं के दोषों को देखकर अपनी निन्दा करना कठिनतर कार्य है। जिसका मानस बालक के सदृश निश्चल एवं सरल हो वही अपने दोषों को प्रकट कर सकता है।

आलोचना की आवश्यकता क्यों? आगम शास्त्रों में स्पष्ट निर्देश है कि जब तक कृत पापों की आलोचना नहीं की जाती तब तक वह हृदय में शल्य बनकर रहते हैं। शल्य के साथ साधक कभी आराधक नहीं बन सकता।

आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि जो व्यक्ति लज्जा, शारीरिक स्थूलता, तप अरुचि या श्रुतमद आदि के कारण अपने दुष्कर्मों को गुरु के समक्ष प्रकट नहीं करते वह सफल आराधक नहीं हो सकता है। वहीं योग्य गुरु के समीप आलोचना करने से संवेग और सत्त्वगुण में वृद्धि होती है। गुरुकृपा प्राप्त होने से दुष्कर्मों को निष्फल करने की शक्ति प्रकट होती है। आलोचना के द्वारा पाप आचार से मलिन हुई आत्मा शुद्ध होती है।

पूर्वकृत दोषों की आलोचना किए बिना पुरुषार्थ जारी रखने पर भी साधना की इमारत दीर्घ समय तक टिक नहीं सकती। पैर में लगे हुए शूल को जब तक दूर नहीं किया जाए तब तक पद यात्रा संभव नहीं होती। वैसे ही जब तक पाप रूपी काँटे को दूर नहीं किया जाए तब तक साधना के शिखर पर आरोहण नहीं किया जा सकता।

यदि इहभव कृत आलोचना संपूर्णतः शुद्ध विधि से की जाए तो उन पापों के प्रति उत्पन्न हुआ तिरस्कार भाव जन्म-जन्मांतर के पापों को समूल रूप से नष्ट कर देता है। पापों के प्रति उत्पन्न हुआ जुगुप्सा भाव दृढ़ प्रहरी, मृगावती, अर्जुनमाली की भाँति मोक्ष पहुँचा सकता है अतः आत्मा को विशुद्धि पथ पर अग्रसर करने के लिए आलोचना एक अत्यावश्यक क्रिया है।

आलोचना का महत्त्व– साधक जीवन में आलोचना एवं प्रायश्चित्त का अत्यधिक महत्त्व है। आलोचना के द्वारा ही साधक की साधना परिशुद्ध होती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। उत्तराध्ययनसूत्र में प्रायश्चित्त की मूल्यवत्ता को दिग्दर्शित करते हुए कहा गया है–

पायच्छित्तकरणेणं पावकम्म विसोहिं जणयइ...
आयारफलं च आराहेइ ।।

प्रायश्चित्त करने से जीव पापकर्म की विशुद्धि करता है और निरतिचार युक्त हो जाता है। सम्यक प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्गफल (ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चारित्र) और आचारफल (मोक्ष) की आराधना करता है। प्रायश्चित्त से रत्नत्रय की आराधना होती है और नियमानुसार मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रमाद बहुल प्राणी भी प्रायश्चित्त से विशोधि को प्राप्त करते हैं। चारित्रधारी मुनियों के चारित्र की रक्षा के लिए प्रायश्चित्त अंकुश के समान है।

निशीथ भाष्य में प्रायश्चित्त को औषधि की उपमा देते हुए तीर्थंकरों को धन्वंतरि वैद्य के तुल्य, अपराधी साधु को रोगी के समान, अपराध को रोग के समान बतलाया है। आत्म रोगों के निवारण के लिए प्रायश्चित्त एक उत्तम चिकित्सा पद्धति है।

प्रायश्चित्त की मूल्यवत्ता को रेखांकित करते हुए कहा गया है कि जम्बुद्वीप में जितने पर्वत हैं वे सभी स्वर्ण के हो जाए, समस्त रेत रत्नमय बन जाए, उन सभी स्वर्ण और रत्नों का कोई सात क्षेत्र में दान करें तो भी जीव उतना शुद्ध और पाप मुक्त नहीं हो सकता जितना की भावपूर्वक आलोचना करके हो सकता है।

शास्त्रों में प्रायश्चित्त की मौलिकता को दर्शाते हुए यहाँ तक कहा है कि यदि कोई साधक आलोचना के भावों से अपने स्थान से प्रस्थान करें और प्रायश्चित्त लेने से पूर्व ही मार्ग में उसकी मृत्यु हो जाए तो भी वह आराधक कहा जाता है।

अपराध बहुल समाज में प्रायश्चित्त का औचित्य– आध्यात्मिक स्तर पर तो प्रायश्चित्त भाव विशोधि की महत्त्वपूर्ण क्रिया है परंतु यदि व्यवहार के धरातल पर विचार करें तो मानव समाज के लिए यह एक वरदान है।

यदि मनोवैज्ञानिक स्तर पर इसकी समीक्षा की जाए तो यह मन शुद्धि का श्रेष्ठ उपाय है। गलती करने के बाद कई बार व्यक्ति उसके पश्चात्ताप की अग्नि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में जलता रहता है। प्रायश्चित्त के माध्यम से उसका मन शांत और निराकुल हो जाता है। निराकुल मन के द्वारा वह आध्यात्मिक बौद्धिक, शारीरिक एवं भौतिक विकास कर सकता है।

प्रायश्चित्त अर्थात एक प्रकार का दंड। दंड की व्यवस्था अपराध नियंत्रण के लिए अत्यावश्यक है। स्वयं में तथा समाज में सुधार लाने का उत्तम प्रयोग है। शरीरस्थ ग्रन्थियाँ क्रोध, अपराध, ग्लानि आदि के भावों से असंतुलित हो जाती हैं। उनके स्राव में न्यूनाधिकता आ जाती है। आलोचना के माध्यम से उन्हें संतुलित किया जा सकता है।

प्रायश्चित्त समाज सुधार की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसके द्वारा अपराधी की मानसिकता को ही बदलने का प्रयास किया जाता है। पापी के मन में पाप के प्रति घृणा लाने का प्रयास किया जाता है। कोई भी बंधन या सजा पाप को रोक सकती है परन्तु उसकी समाप्ति नहीं कर सकती जबकि प्रायश्चित्त गलत वृत्तियों की रोकथाम करता है। क्योंकि प्रायश्चित्त को व्यक्ति अपनी स्वेच्छा से स्वीकार करता है।

वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास के लिए भी प्रायश्चित्त एक अपूर्व क्रिया है। प्रतिषिद्ध आचरण करने पर प्रायश्चित्त दिया जाता है। इससे किसी प्रकार की गलत परम्परा का प्रारंभ नहीं होता। प्रायश्चित्त के माध्यम से स्वदोष ज्ञात होते हैं तथा स्वयं के दुर्गुणों की जानकारी से उनके निकासन एवं सफलता प्राप्ति में सहायता प्राप्त होती है। विविध प्रकारों के दंड का भय भी कई बार अपराधवृत्ति को रोकने में हेतुभूत बनता है। मानसिक उद्विग्नता शांत होती है। जीवनगत दुष्प्रवृत्तियों का निरोध होता है। पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवस्था संतुलित रहती है।

प्रायश्चित्त के शास्त्रोक्त लाभ– शास्त्रकारों के मत में प्रायश्चित्त स्वीकार से प्रायश्चित्त कर्त्ता को अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। जैसे कि–

• कृत दोषों का प्रायश्चित्त करने पर शुभ अध्यवसायों के कारण अन्य दोष भी नष्ट हो जाते हैं।

• गुरु के समक्ष पाप निवेदन करने पर अभिमान टूटता है। अहंकार ही संसार परिभ्रमण का मुख्य कारण है अतः प्रायश्चित्त के द्वारा संसार परिभ्रमण ही रूक जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• प्रायश्चित्त (दंड) के रूप में प्राप्त तप-जप आदि से धर्म साधना निश्चित हो जाती है। इनके द्वारा पूर्व संचित पाप की निर्जरा एवं नवीन पुण्य का बंधन होता है।

• आलोचना के द्वारा जीवन परिवर्तन होता है एवं चित्त धर्ममय प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है।

• शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त ग्रहण करने से उत्कृष्ट शुभ भावों के परिणामस्वरूप कई बार केवलज्ञान तक की प्राप्ति हो जाती है। आगमों में कई ऐसे उदाहरणों का वर्णन है जिन्होंने आलोचना करते-करते ही सर्वथा कर्मों का क्षय कर लिया।

प्रायश्चित्त स्वीकार क्यों किया जाए? कई लोगों के मन में यह प्रश्न उभरता है कि व्यक्ति के द्वारा बड़ा अपराध हो जाए तो उसकी सजा देना आवश्यक है किन्तु सामान्य भूल या अनुचित व्यवहार के लिए दण्ड व्यवहार पद्धति की आवश्यकता क्यों? छोटी-छोटी गलतियाँ तो इंसान से होती रहती है परंतु उन्हें बार-बार गुरु के समक्ष प्रकट करना तो हंसी-मजाक होगा। परंतु ऐसा नहीं है घाव छोटा हो या बड़ा उसे दूर करना आवश्यक होता है वरना वही छोटा घाव बड़ा बन जाता है। इसी प्रकार छोटी-छोटी गलतियाँ बार-बार उपेक्षित करने पर महा दुष्फल का कारण बनती है।

84 लाख जीव योनि में मनुष्य को सर्वोत्तम माना गया है। उच्च पदासीन व्यक्तियों का छोटा सा गुनाह भी व्यावहारिक जीवन में बड़ी सजा का कारण बन जाता है। जैसे कि न्यायाधीश द्वारा थोड़ी सी रिश्वत लेने पर उसे पदच्युत कर दिया जाता है। इसी प्रकार प्रज्ञा सम्पन्न मानव यदि गुनाह करें तो वह अधिक पतन का कारण बनता है।

कई सूक्ष्म परिलक्षित होने वाली क्रियाएँ प्रबल कषाय भावों के कारण स्थूल पाप रूप में परिवर्तित हो जाती है। जैसे कि अंधेरे में रस्सी को साँप समझकर मारने की क्रिया में द्रव्य हिंसा नहीं है परंतु भावों से साँप को मारने जितने भावों का ही बंधन होता है। आंतरिक मलीनता छोटे पापों को बड़ा कर देती है वहीं आंतरिक निर्मलता स्थूल पापकारी क्रियाओं में भी अल्प बंधन करवाती है। लोक व्यवहार में भी देखते हैं कि ऊपर से मलबा फेंकते हुए मजदूर के द्वारा पत्थर लगने से कोई व्यक्ति मर भी जाए तो मारने के भाव न होने के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारण उसके न तो प्रगाढ़ कर्मों का बंधन होता है और न ही लोक व्यवहार में उसे कठोर सजा दी जाती है।

छोटी गलतियों को यदि गौण कर दिया जाए तो वही बड़े अपराध का रूप धारण कर लेती हैं। जैसे छोटा सा कर्ज न चुकाने पर वह ब्याज के कारण एक बड़ी रकम का रूप धारण कर लेता है। बच्चों को बचपन में पेन्सिल, रबड़ आदि की चोरी करने से न रोकने पर वह क्रियाएँ उन्हें भविष्य में बड़ा अपराधी बना देती है। जैसे एक झूंठ सौ झूठ बुलवाता है वैसे ही एक पाप को स्वीकार न करने पर वह सौ नए पाप कार्यों में हेतुभूत बनता है।

आलोचना गुरुमुख से ही क्यों? कई बार प्रश्न उठता है कि आलोचना गुरुमुख से ही क्यों स्वीकार की जाए? अंत:करण में यदि पाप स्वीकार की भावना है तो स्वयं भी तो उस दोष की आलोचना ग्रहण कर सकते हैं।

स्वयं के द्वारा आलोचना स्वीकृत करने से अपराधवृत्ति न्यून होने की संभावना बहुत कम रहती है।

गुरु दीर्घ अनुभवी एवं सूक्ष्म रहस्यों के ज्ञाता होते हैं अत: वे अपराध के पीछे रहे भावों को समझकर तदनुरूप प्रायश्चित्त देते हैं। स्वयं आलोचना स्वीकृत करने पर वह संभव नहीं है।

वर्तमान में अधिकांश लोग आलोचना के प्रति लापरवाही बरतते हुए देखे जाते हैं। कई लोगों को गुरु से संकोच होता है तो कोई अपनी छवि बिगाड़ना नहीं चाहते, कुछ लोगों को पाप एवं कर्म बंधन का भय ही नहीं होता।

आज आलोचना देने योग्य गीतार्थ गुरुओं की संख्या भी न्यून होती जा रही है। इसके बावजूद भी यदि आलोचक की भाव शुद्धि है तो गुरु कैसे भी हों परन्तु वह भावों द्वारा अपनी निर्जरा अवश्य करता है।

पण्डित आशाधरजी कहते हैं जिसका चित्त सद्गुरु द्वारा दिए गए प्रायश्चित्त में रमता है उसका अन्तर्मन जीवन रूपी दर्पण में मुख के समान चमकता है।

ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से यदि पाप स्मृति में न आ रहा हो तो योग्य गुरु उसे नानाविध प्रकार से आलोचनार्ह को याद दिलवाते हैं।

प्रायश्चित्त पर शोध कार्य की उपयुज्यता— प्रायश्चित्त एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्यंत सूक्ष्म विषय है। इसमें ग्रंथ निर्दिष्ट निर्देशों के साथ अनुभव ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। इसीलिए गीतार्थ आचार्य को ही आलोचना देने योग्य माना है। आलोचनाग्राही को सम्पूर्ण निःशल्य होने का निर्देश दिया गया है। एक पापवृत्ति को छिपाने की भावना समस्त आलोचित पापों को भी निष्फल कर देती है।

यदि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में चिंतन करें तो आज पाप वृत्तियाँ एवं दूषित मनोवृत्तियाँ बढ़ती जा रही है। लोगों में पापभीरूता एवं मर्यादाओं के प्रति कटिबद्धता भी नहींवत रह गई है। समाज में नियम मर्यादाओं का भंग बढ़ता जा रहा है। छोटे स्तर पर इन अपराधों को न रोकने के कारण आज पारिवारिक हिंसा, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी बढ़ते जा रहे हैं।

यद्यपि समाज की अपनी दण्ड व्यवस्था है। परंतु उसमें इतनी अधिक नियम मर्यादाएँ हैं कि असल अपराधी तक पहुँचते-पहुँचते अपराधी की अपराध वृत्ति बहुत बढ़ जाती है। दण्ड व्यवस्था तो है किन्तु अपराध वृत्ति के कारणों को जानकर उनके निर्मूलन का कोई उपाय नहीं है।

इन्हीं सब तथ्यों को ध्यान में रखकर जैन शास्त्रों में व्याख्यायित प्रायश्चित्त विधि के विविध पहलुओं को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। जिससे जन सामान्य में आलोचना के प्रति रही भय वृत्ति समाप्त हो जाए।

प्रायश्चित्त एवं आलोचना विधि को स्पष्ट रूप से समझने हेतु इस खण्ड को सात अध्यायों में विभाजित किया है। **प्रथम अध्याय** में प्रायश्चित्त के विभिन्न अर्थों का निरूपण करते हुए पूर्वाचार्यों के अनुसार प्रायश्चित्त का स्वरूप, परिभाषा एवं उसके समानार्थक शब्दों का उल्लेख किया गया है।

प्रायश्चित्त जैन साधना की प्राणभूत क्रिया है। समस्त क्रिया-अनुष्ठानों का सार है। स्वदोष दर्शन की अद्भुत प्रक्रिया है। ग्रन्थकारों ने पापों को शुद्ध करने की क्रिया को प्रायश्चित्त कहा है। यह पाप समूह का छेदन करते हुए जीव को अतिचार मल से रहित करती है। जैनाचार्यों के अनुसार प्रायश्चित्त वह तप अनुष्ठान है, जिसके आचरण से इहभव में उपार्जित एवं परभव में संचित समस्त प्रकार के दुष्पाप आत्मा से पृथक हो जाते हैं। प्रायश्चित्त यह मानव से महामानव बनने का राजमार्ग है अतः प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम प्रायश्चित्त के स्वरूप एवं प्रकारों से अवगत करवाया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरा अध्याय प्रायश्चित्त के प्रकार एवं उपभेदों से सम्बन्धित है। दोष विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान प्राच्यकाल से प्रवर्त्तमान है। साधकों को प्रायश्चित्त हेतु अग्रसर करने एवं विविध प्रकार के दोषों का निवारण करने हेतु प्रायश्चित्त के भिन्न-भिन्न प्रकार बताए गए हैं।

इसमें प्रायश्चित्त की विभिन्न कोटियाँ बताते हुए किस दोष के लिए कौनसा प्रायश्चित्त दिया जाता है? प्रायश्चित्त कौन दे सकता है? कौन, किस प्रायश्चित्त का अधिकारी है? वर्तमान में कितने प्रायश्चित्त प्रवर्तित है? प्रायश्चित्त दान के विविध प्रतीकाक्षर, प्रायश्चित्त देने योग्य उपवास आदि तपों के मानदंड की तालिका आदि गूढ़ार्थक विषयों को स्पष्ट किया है।

तृतीय अध्याय में प्रायश्चित्त लेने-देने के प्रभाव एवं उनकी उपयोगिता का वर्णन किया है।

प्रायश्चित्त यद्यपि दोष स्वीकार मात्र की क्रिया है। परन्तु यह एक क्रिया अनेक लाभों की जनक है। जैनाचार्यों के अनुसार प्रायश्चित्त एक शुभ भाव धारा है। शुभ भावों से अशुभ कर्म का नाश होता है। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। कर्मों के अनुबंध का विच्छेद होता है और जीव मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ होता है।

साधक वर्ग को आलोचना एवं प्रायश्चित्त की महत्ता बताने के लिए इस अध्याय में प्रायश्चित्त के शास्त्रोक्त लाभ, प्रायश्चित्त की आवश्यकता, प्रायश्चित्त विधियों के गवेषणात्मक रहस्य, गुरुमुख से आलोचना करने के कारण, आलोचना एकांत में क्यों? प्रायश्चित्त दान सम्बन्धी विविध शास्त्रीय नियम आदि पर चर्चा की गई है। जिससे आराधक वर्ग प्रायश्चित्त विधि के विभिन्न रहस्यों को जान सके।

इस खण्ड का **चतुर्थ अध्याय** आलोचना विधि के मौलिक बिन्दुओं को उजागर करता है। आलोचना जैन साहित्य का एक पारिभाषिक शब्द है। गृहस्थ एवं मुनि जीवन दोनों में ही इसका अनन्य स्थान है। इसे कुसंस्कारों के निर्मूलन का श्रेष्ठ उपाय माना है। सम्यक आलोचना के द्वारा अनेकशः पाप अपना दुष्फल दिए बिना ही निर्जरित हो जाते हैं। एक पाप के प्रति रहा जुगुप्सा भाव अनेक पाप कर्मों की श्रृंखला को तोड़ देता है।

उपरोक्त अध्याय में आलोचना के इसी महत्त्व को दर्शाते हुए आलोचना के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूप पर विमर्श किया गया है। आलोचना किन स्थितियों में किसके समक्ष करें? शुद्ध आलोचना के लिए पूर्व में किस प्रकार की तैयारी करें? आलोचना करने की आवश्यकता क्यों है? आलोचना दाता एवं आलोचक में किन गुणों को आवश्यक माना है? आलोचना किस क्रम से एवं किन परिस्थितियों में करें? आलोचना न करने के दुष्परिणाम आदि पर विचार किया है।

पाँचवें अध्याय में आलोचना एवं प्रायश्चित्त विधि के ऐतिहासिक विकास क्रम की चर्चा की गई है।

जैन दर्शन आचार एवं विचार प्रधान दर्शन है। आलोचना वैचारिक जगत को ऊँचा उठाने की प्रक्रिया है और प्रायश्चित्त आचार पक्ष को निर्मल करता है अतः प्रारंभकाल से ही मानव जगत में इसका वैशिष्ट्य रहा है। प्रस्तुत अध्याय में आगम युग से अब तक प्रायश्चित्त सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

इसी का विशिष्ट विश्लेषण करते हुए **षष्ठम अध्याय** में पूर्वापर क्रम को ध्यान में रखते हुए जैन एवं जैनेतर साहित्य में प्रतिपादित प्रायश्चित्त विधियाँ एवं उनका तुलनात्मक पक्ष दर्शाया गया है।

प्रायश्चित्त दान का अधिकारी आचार्य या गीतार्थ मुनि को ही माना है। वर्तमान में जीत व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त दिया जाता है। अतः इस अध्याय में श्वेताम्बर मान्य विधिमार्गप्रपा एवं आचार दिनकर के अनुसार जीत व्यवहार बद्ध प्रायश्चित्त कहा गया है तथा उसकी क्रमबद्ध विवेचना की गई है। इसी के साथ वैदिक एवं बौद्ध ग्रन्थों में निरूपित प्रायश्चित्त विधि भी बताई गई है। इससे जन साधारण सुगमता पूर्वक इस विषय का ज्ञान प्राप्त कर पापों से विरत हो सकेंगे।

सातवें अध्याय में उपसंहार की दृष्टि से प्रायश्चित्त दान की विविध कोटियों का आगम अनुसार निरूपण किया गया है।

इस खण्ड लेखन का उद्देश्य मुख्य रूप से समाज में नैतिक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक अपराधों के प्रति जागृति लाना, अपराध बोध की भावना उत्पन्न करना, अपराधों को न्यून करते हुए एक मर्यादित एवं आचार दृढ़ आदर्श समाज का निर्माण करना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खण्ड-11

षडावश्यक की उपादेयता भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में

षडावश्यक जैन धर्म की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। इस क्रिया के नाम से ही इसके अर्थ का सहज बोध हो जाता है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ के लिए यह क्रिया उभय संध्याओं में आवश्यक मानी गई है। वर्तमान में षडावश्यक को प्रतिक्रमण के नाम से जाना जाता है।

अनादिकालीन दुष्कर्मों का क्षय, नवीन कर्मों का संवर एवं मैत्री आदि सद्गुणों का उत्कर्ष करने के लिए यह एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। इसके द्वारा दोषों का अपनयन एवं जीवन शुद्धि होती है तथा अंततोगत्वा स्व-स्वरूप की उपलब्धि भी होती है।

आवश्यक का सामान्य अर्थ होता है अवश्य करणीय नित्य कर्म। आगमों में आवश्यक को अनेक दृष्टियों से परिभाषित किया है। जो क्रिया ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रयी की साधना एवं प्रति नियत काल में अनुष्ठेय है वह आवश्यक कहलाती है। यह समस्त गुणों का आश्रय स्थल है।

आवश्यक मात्र कोई एक क्रिया नहीं यह छः विविध क्रियाओं का समूह है। इसी कारण इसे षडावश्यक कहा जाता है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान इन छः क्रियाओं को संयुक्त रूप में षडावश्यक संज्ञा दी गई है। इस शोध श्रृंखला में ग्यारहवें क्रम पर इन्हीं छः आवश्यकों का वर्णन किया है।

षडावश्यक एक मौलिक साधना कैसे? जैन परम्परा में षडावश्यक का वही महत्त्व है जो वैदिक परम्परा में संध्या, मुसलमानों में नमाज, ईसाईयों के लिए प्रार्थना, योगियों के लिए प्राणायाम का है। यह अपने आप में इतनी विराट साधना है कि इसमें यौगिक यम-नियम एवं गीता के ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग का समावेश हो जाता है। आत्म विशुद्धि के लिए यह एक क्रमिक चरण है तथा सफल आध्यात्मिक जीवन के लिए परमावश्यक है। इसकी प्रत्येक क्रिया साधक में समत्व गुण का विकास, विभाव दशा का निकास एवं सद्गुणों का आभास करवाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथम आवश्यक के रूप में सामायिक आवश्यक की व्याख्या की गई है। श्रमण जीवन में जहाँ सामायिक प्रथम चारित्र है, वहीं गृहस्थ जीवन के बारह व्रतों में यह पहला शिक्षा व्रत है। सामायिक का अर्थ मात्र एक स्थान पर 48 मिनट तक बैठना नहीं है। यह तो एक ऐसी क्रिया है जो साधक को बाह्य प्रपंचों से दूर हटाकर स्वयं में स्थिर करती है।

दूसरा चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक मुख्य रूप से अरिहंत परमात्मा का नाम स्मरण है। यह साधक में परमात्म गुणों को प्रकट करता है। तीर्थंकरों के नाम आलम्बन से स्वयं में तीर्थंकरत्व जागृत होता है। प्रथम आवश्यक के रूप में समत्व गुण से अभिसिंचित आत्मभूमि पर निर्वाण पद रूपी वृक्ष का बीजारोपण करता है।

तीसरा वंदन आवश्यक लघुता गुण को प्रकट करते हुए विनय एवं समपर्ण भाव को जागृत करता है। इससे अहंकार का मर्दन एवं ऋजु भाव उत्पन्न होता है। यर्थाथत: ऋजुता, लाघवता, सरलता आदि आत्म गुणों का जागरण ही शुद्ध स्वरूप प्राप्ति का मुख्य सोपान है।

चौथा प्रतिक्रमण आवश्यक पापों का स्मरण कर उनसे पीछे हटने की क्रिया है। जब साधक में समभाव दशा विकसित होती है तब विनय आदि गुणों के माध्यम से व्यक्ति संसार राग से हटकर आत्म राग के मार्ग पर अग्रसर होता है। स्व दोषों को परिष्कृत कर आत्म स्वरूप में निखार लाता है।

पाँचवें कायोत्सर्ग आवश्यक की साधना शरीर के प्रति ममत्व एवं आसक्ति को न्यून करने में सहायक बनता है।

छठवाँ प्रत्याख्यान आवश्यक शल्य रहित आत्म अवस्था के रक्षण हेतु बांध का कार्य करता है तथा जीव को पुन: उन्मार्ग पर प्रवृत्त होने से बचाता है।

अल्प शब्दों में सारभूत तथ्य कहें तो षडावश्यक की साधना व्यक्ति में सद्गुणों का सृजन करते हुए आत्मानंदी जीवन जीने का मार्ग बताती है। हमारे पूर्वाचार्यों ने इसके महत्त्व को उजागर करने हेतु कई निर्युक्तियाँ, चूर्णियाँ एवं भाष्य आदि इस विषय पर गुम्फित किये।

षडावश्यकों का क्रम वैशिष्टय– आवश्यक छ: प्रकार के कहे गए हैं– 1. सामायिक 2. चतुर्विंशतिस्तव 3. वंदन 4. प्रतिक्रमण 5. कायोत्सर्ग और 6. प्रत्याख्यान। आवश्यक साधना का यह क्रम कार्य-कारण भाव की श्रृंखला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर आधारित एवं पूर्ण वैज्ञानिक है।

अन्तर्मुखी साधना हेतु समभाव की प्राप्ति परमावश्यक है। किसी भी साधक का सर्वोच्च लक्ष्य समत्व दशा को उपलब्ध करना ही होता है। टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार विरत व्यक्ति ही सामायिक साधना कर सकता है क्योंकि सावद्य योगों से निवृत्त होने की स्थिति में ही 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' जैसे महान विचारों का आविर्भाव होता है अतः समता अध्यात्म क्षेत्र में प्रवेश करने का प्रथम सोपान है। आत्मतुला सिद्धान्त को चरितार्थ करना ही सामायिक साधना है।

जो व्यक्ति समत्व गुण का अनुभव कर चुका है वही पूर्णता के शिखर पर अवस्थित वीतराग के गुणों का यथार्थ संस्तवन एवं संकीर्तन कर सकता है। सद्गुण प्राप्ति की दिशा में प्रस्थान करने हेतु ही दूसरे क्रम पर चतुर्विंशतिस्तव को रखा गया है।

प्रमोद भाव एवं गुण ग्राहकता का विकास होने पर ही व्यक्ति चारित्रवान एवं गुणी पुरुषों के चरणों में अपना मस्तक झुका सकता है। श्रद्धाभिसिक्त होकर देव तत्त्व एवं गुरु तत्त्व को स्वीकार कर सकता है। इसी हेतु तीसरे स्थान पर वंदन आवश्यक है।

वंदन करने वाला व्यक्ति निर्मल एवं सरल होता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषों की आलोचना कर सकता है अतः वंदन के पश्चात प्रतिक्रमण आवश्यक का निरूपण है। पंडित सुखलालजी के अनुसार आलोचना गुरु के समक्ष की जाती है। जो व्यक्ति गुरु को वन्दन नहीं करता वह आलोचना का अधिकारी ही नहीं है अतः वन्दन के बाद प्रतिक्रमण आवश्यक का स्थान है। अपराध निवेदन करने पर चित्त शुद्धि तो हो जाती है किन्तु उन दोषों से मुक्ति पाने के लिए तन एवं मन की स्थिरता होना आवश्यक है और वह कायोत्सर्ग द्वारा ही संभव है। साधक चित्तशुद्धि किए बिना कायोत्सर्ग करता है उसकी चेतना में श्रेष्ठ ध्येय के विचार कभी जागृत नहीं होते, वह अनुभूत विषय का ही चिन्तन करता रहता है अतः प्रतिक्रमण के बाद कायोत्सर्ग आवश्यक को प्रमुखता दी है।

जब व्यक्ति के जीवन में स्थिरता और एकाग्रता सध जाती है तभी वह अकरणीय का प्रत्याख्यान कर सकता है। प्रत्याख्यान उत्तम प्रकार का आवश्यक है। उसके लिए विशिष्ट चित्त शुद्धि और अगणित उत्साह होना अनिवार्य है। यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कायोत्सर्ग के द्वारा ही संभव है। इसी अभिप्राय से कायोत्सर्ग के बाद प्रत्याख्यान का स्थान रखा गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि सभी आवश्यक परस्पर में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं अत: आवश्यक का यह क्रम मौलिक एवं वैज्ञानिक है।

आवश्यकों की उपयुज्यता– षडावश्यक की उपयोगिता को वर्णित करते हुए अनुयोगद्वारसूत्र एवं उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि प्रथम सामायिक आवश्यक के द्वारा दीर्घकालीन अशुभ प्रवृत्तियों से दूर रहकर समतापूर्वक जीवन जीने का संकल्प किया जाता है इससे जीव सावद्य योगों से विरति को प्राप्त होता है। सामायिक का प्रयोजन मात्र दैहिक प्रवृत्तियों का निरोध करना ही नहीं है, अपितु प्रमुख रूप से मानसिक दुर्विचारों एवं आत्ममल का विशोधन करना है। सामायिक साधना के द्वारा ही मन को निर्विकल्प बनाया जा सकता है।

दूसरे चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक में सर्वोच्च दशा में अवस्थित तीर्थंकर के गुणों का संस्तवन मिथ्यात्व रूपी अंधकार का विलय करता है और अंत:करण की निर्मलता रूप विशोधि को प्राप्त करवाता है।

विनय धर्म का मूल है। तीसरा वंदन आवश्यक विनय गुण का जागरण करता है। गुरुजनों को विनम्र भाव पूर्वक वंदन करने से अप्रतिमत पुण्य की प्राप्ति होती है। सभी के मन में सद्भाव का वर्धन होता है।

चौथे प्रतिक्रमण आवश्यक द्वारा अतिचारों की शुद्धि होने से प्रमाद दशा कम होती है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार प्रतिक्रमण करने वाला व्यक्ति व्रतों के छिद्रों को बंद कर देता है अर्थात व्रतों को दूषणता रहित करता है।

पाँचवें कायोत्सर्ग आवश्यक को व्रण चिकित्सा कहा गया है। छद्मस्थ अवस्था में प्रमादवश या अनायास ही अनेक प्रकार के दोष लगते हैं। आचार्यों के अनुसार वे दोष व्रण (जख्म) के समान हैं एवं कायोत्सर्ग मरहम-पट्टी रूप उपचार के समान। अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्त योग्य अतिचारों का विशोधन होने से आत्म निर्भार और प्रशस्त ध्यान में तच्चित्त होती है।

अन्तिम प्रत्याख्यान आवश्यक के माध्यम से भविष्य काल में किसी प्रकार की गलती या दुष्प्रवृत्ति न करने का संकल्प किया जाता है। प्रत्याख्यान करने से इच्छाओं का शमन ही नहीं वरन् तृष्णाजन्य मन की चंचलता समाप्त हो जाती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। साधक परम शान्ति का अनुभव करता है।

अत: अध्यात्म क्षेत्र में अनवरत रूप से गतिशील रहने एवं आत्म स्वरूप की अभिव्यक्ति हेतु आवश्यक क्रिया अपरिहार्य रूप से उपादेय है।

आवश्यक क्रिया का उद्देश्य– आवश्यक क्रिया जैनत्व का मुख्य अंग है। इस क्रिया के माध्यम से आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक जीवन समृद्ध एवं सशक्त बनता है। षडावश्यक का मूल उद्देश्य अध्यात्म पक्ष को परिपुष्ट करते हुए शाश्वत सुख की उपलब्धि करना है। यहाँ व्यावहारिक पक्ष गौण है क्योंकि अन्तरंग शुद्धि के साथ व्यवहार की शुद्धि स्वत: ही हो जाती है। छ: आवश्यकों में प्रत्येक आवश्यक की फलश्रुति अध्यात्म से परिपूर्ण है।

षडावश्यक की नित्यप्रति साधना का एक प्रमुख कारण अपने लक्ष्य को स्मृति में रखना एवं उस आत्म स्वरूप प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर रहना है। षडावश्यक साधना का एक उद्देश्य आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रकट कर वैभाविक कर्म पुद्गलों का निर्गमन करना है। षडावश्यक गुणवर्धन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

यदि व्यावहारिक धरातल पर विचार करें तो इसकी मौलिकता मननीय है। यह साधारण मानव जाति के कदम-कदम पर सहायक होने वाली साधना है। समता जीवन यात्रा को सुखद एवं आनंद से परिपूर्ण बनाती है। जीवन में श्रेष्ठ बनने का लक्ष्य निर्माण करती है। कर्तव्य पालन के प्रति सचेत और स्व दोष निरीक्षण कर इनके संशोधन हेतु प्रेरित करती है। एकाग्रता पूर्वक वस्तु स्वरूप को समझने की शक्ति उत्पन्न करती है। इस तरह मानसिक प्रसन्नता एवं स्थिरता के द्वारा स्वस्थता एवं सफलता का आस्वाद किया जा सकता है।

षडावश्यक पर शोध कार्य कितना प्रासंगिक? जैन विधि-विधानों में षडावश्यक का विशिष्ट स्थान है। तीर्थ की स्थापना के बाद सर्वप्रथम इसी आचार का निरुपण होता है। प्रत्येक तीर्थंकर के शासन में आवश्यक का विधान नियमत: देखा जाता है।

यदि वैयक्तिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस शोध कार्य की आवश्यकता पर विचार करें तो वर्तमान आपाधापी के युग में इसकी नितान्त जरुरत है। यह क्रोधादि आवेशों को शान्त करने की अभूतपूर्व शिक्षा प्रदान करता है। आज सामाजिक एवं परिवारिक विघटन का मुख्य कारण ईर्ष्या, स्वार्थ, आवेश आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही है। आवश्यक इन्हें नियंत्रित एवं उपशमित करने का अनुभूत मार्ग है।

आज विश्व विकास की दौड़ में तीव्र गति से दौड़ रहा है। विकास में सात्विकता एवं मानवता लुप्त हो चुकी है। व्यक्ति येन-केन प्रकारेण आगे बढ़ना चाहता है। प्रतिस्पर्धा में प्रतिद्वंदिता बढ़ती जा रही है। षडावश्यक की साधना लघुता, गुणग्राहकता एवं विनय की कला सिखाती है।

आपसी गैर समझ, मतभेद एवं वैर को मिटाने में भी षडावश्यक साधना सहयोगी बन सकती है तथा विश्व मैत्री के संदेश को प्रसरित करती है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में तो इसकी महत्ता सर्व विदित है। इसी महत्ता एवं उपयोगिता के अन्य पक्ष उजागर करने एवं षडावश्यक के तात्त्विक स्वरूप से परिचित करवाने के लिए यह शोध कार्य सहयोगी बन सके तद्हेतु इसे सात अध्यायों में विभाजित किया है।

प्रथम अध्याय में आवश्यक के स्वरूप एवं उसके भेद-प्रभेदों की चर्चा करते हुए तत्सम्बन्धी अन्य अनेक विषयों को उद्घाटित किया है। जो अवश्य करने योग्य हो उसे आवश्यक कहते हैं। इसे आवश्यक, आपाश्रय, आवश्य, आवासक, ध्रुव निग्रह, विशोधि, अवश्यकरणीय आदि विविध नामों से जाना जाता है। यहाँ आवश्यक शब्द का अभिप्राय लौकिक आवश्यक क्रियाओं से नहीं अपितु लोकोत्तर क्रिया से है। इसी आवश्यक क्रिया के स्वरूप एवं महत्त्व को समझाने हेतु इस अध्याय में आवश्यक शब्द को परिभाषित करते हुए उसके प्रकार, क्रम वैशिष्ट्य, वर्तमान प्रासंगिकता आदि का वर्णन किया है। इसी के साथ इसकी ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने हेतु आवश्यक सूत्र के कर्ता, रचनाकाल एवं व्याख्या साहित्य का भी विवरण प्रस्तुत किया है।

इस खण्ड के **द्वितीय अध्याय** में सामायिक आवश्यक का सुविस्तृत प्रतिपादन करते हुए कई मुख्य घटकों को उजागर किया गया है।

सामायिक जैन साधना पद्धति की महत्त्वपूर्ण क्रिया है। जैन साधना का आरम्भ इसी के द्वारा होता है। षडावश्यक का प्रारंभ भी सामायिक से होता है। सामायिक मन, वचन, काया को संयमित करने का व्रत है। आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने का प्रथम सोपान है। आत्मा के स्वाभाविक गुणों का संपोषण एवं वैभाविक दोषों का निर्गमन करने का प्रमुख साधन है।

सामायिक आवश्यक का मौलिक विश्लेषण करते हुए द्वितीय अध्याय में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विविध दृष्टियों से सामायिक का शाब्दिक स्वरूप बताते हुए सामायिक की महत्ता, सामायिक और ज्ञान, सामायिक और संज्ञी-असंज्ञी, सामायिक और आहारक पर्याप्ति, सामायिक चारित्र एवं गुप्ति में अंतर, सामायिक और समिति में अन्तर, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सामायिक की प्रासंगिकता, सामायिक सम्बन्धी दोष, सामायिक सम्बन्धी विविध शंकाएँ आदि अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों का यहाँ सारगर्भित विवेचन किया है। यह वर्णन सामायिक साधना में निखार लाने में अवश्य सहयोगी बनेगा।

तृतीय अध्याय चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति से सम्बन्धित है। इसमें चतुर्विंशतिस्तव का तात्त्विक विवेचन किया है।

षडावश्यक में चतुर्विंशतिस्तव का दूसरा स्थान है। चौबीस तीर्थंकरों के नामोच्चारण पूर्वक उनका गुण कीर्त्तन करना चतुर्विंशतिस्तव कहा जाता है। मूलतः यह भक्ति प्रधान आवश्यक है। इस आवश्यक में उन महापुरुषों का गुणगान एवं प्रशंसा की गई है, जिन्होंने राग-द्वेष आदि विषय-कषायों का नाश कर आत्मा को उज्ज्वल और प्रकाशमान बनाया है।

प्रस्तुत अध्याय में चतुर्विंशतिस्तव का प्रतिकात्मक अर्थ, तीर्थंकर परमात्मा की स्तुति आवश्यक क्यों? चतुर्विंशतिस्तव में छः आवश्यकों का समावेश कैसे? चतुर्विंशतिस्तव सम्बन्धी साहित्य, चतुर्विंशति में गर्भित नवत्रिक आदि अनछुए अनेक पहलुओं का सारगर्भित विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में वन्दन आवश्यक के रहस्यात्मक पक्षों का मौलिक विवेचन किया गया है। पूज्य पुरुषों को वंदन करने की परम्परा आचार जगत में सदा काल से जीवन्त रही है। उनमें भी देव और गुरु को विधि पूर्वक वन्दन किया जाता है क्योंकि ये पूज्यों के भी पूज्य हैं। इन्हें वंदन करने से श्रद्धा गुण विकसित होता है। द्वितीय आवश्यक के द्वारा परमात्मा की एवं तृतीय वंदन आवश्यक द्वारा सद्गुरु की उपासना की जाती है।

वन्दन आवश्यक के विशुद्धि परिपालन के लिए प्रस्तुत अध्याय में वन्दन शब्द का मौलिक स्वरूप, वन्दन के प्रकार, वन्दन आवश्यक में प्रयुक्त सूत्रों के नाम, कृतिकर्म करने का अधिकारी कौन? वन्दनीय कौन है? वन्दन कब करना चाहिए? अवन्दनीय को वन्दन करने पर कौनसे दोष लगते हैं? वन्दन कब करना और कब नहीं? कृतिकर्म कहाँ और कब? वन्दना सम्बन्धी 32 दोष आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विविध पक्षों की चर्चा की गई है।

इस कृति का **पंचम अध्याय** प्रतिक्रमण आवश्यक की सामान्य विवेचना करते हुए उसके अर्थ गांभीर्य को प्रस्तुत करता है। षडावश्यक में प्रतिक्रमण चतुर्थ आवश्यक रूप है परंतु वर्तमान में सम्पूर्ण षडावश्यक की क्रिया प्रतिक्रमण नाम से ही जानी जाती है। वस्तुत: यह आवश्यक क्रिया का एक स्वतंत्र अंग तथा आत्म संशुद्धि एवं दोष परिष्कार का जीवन्त साधन है। छ: आवश्यकों में प्रतिक्रमण ऐसा आवश्यक है जिसके सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया जा सकता है अत: खण्ड-12 में इसका सविस्तार वर्णन किया गया है।

षष्टम अध्याय में पाँचवें कायोत्सर्ग आवश्यक की चर्चा करते हुए उसका मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत किया है।

कायोत्सर्ग पाप विमुक्ति एवं देह निर्ममत्व की अचूक साधना है। इसी आवश्यक के माध्यम से हम अपने अन्तर्मन या आत्म स्वभाव में स्थित हो सकते हैं। कायोत्सर्ग बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से अन्तर्मुखी होने का सशक्त आधार है। इसके द्वारा शारीरिक ममत्व का विसर्जन कर देहातीत अवस्था का अनुभव किया जाता है।

वर्णित अध्याय में कायोत्सर्ग के विभिन्न घटकों की चर्चा करते हुए कायोत्सर्ग का अर्थ विश्लेषण, कायोत्सर्ग के प्रकार, कायोत्सर्ग संबंधी दोष एवं आगार, कायोत्सर्ग योग्य दिशा, क्षेत्र एवं मुद्राएँ तथा अन्य विधि निर्देश देते हुए कायोत्सर्ग की तुलना प्रत्याहार, हठयोग, श्वासोच्छवास काय गुप्ति, ध्यान, विपश्यना, प्रेक्षाध्यान आदि से की गई है।

इस खण्ड के **अन्तिम अध्याय** में प्रत्याख्यान के आवश्यक पहलुओं को प्रस्तुत करते हुए उन पर शास्त्रीय अनुचिन्तन किया गया है। प्रत्याख्यान षडावश्यक का अंतिम छट्ठा अंग है। इच्छाओं के निरोध के लिए प्रत्याख्यान एक आवश्यक कर्तव्य है। इस दुर्लभ मानव तन को सार्थक करने हेतु जीवन में त्याग होना अत्यंत आवश्यक है। प्रत्याख्यान के माध्यम से जीवन की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं को सीमित किया जा सकता है अत: मोक्षाभिलाषी श्रावकों के लिए यह दैनिक आचार है।

सप्तम अध्याय में प्रत्याख्यान विषयक वर्णन करते हुए प्रत्याख्यान का पारिभाषिक स्वरूप, प्रत्याख्यान के प्रकार, प्रत्याख्यान विशोधि एवं अविशोधि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के स्थान, प्रत्याख्यान ग्रहण विधि, प्रत्याख्यान सम्बन्धी आगार, उनका स्वरूप एवं उनके कारण, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का सम्बन्ध, प्रत्याख्यान के प्रयोजन आदि विविध विषयों पर मूल्यपरक विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत शोध खण्ड का मुख्य ध्येय यह है कि साधक वर्ग आवश्यक क्रिया के वास्तविक स्वरूप से परिचित हो पाएं, षडावश्यक की महत्ता एवं नियामकता को समझते हुए उसे दैनिक आचरण के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार करें एवं पारस्परिक क्रियाओं के गूढार्थमय स्वरूप को समझ पाएं।

खण्ड-12

प्रतिक्रमण एक रहस्यमयी योग साधना

प्रतिक्रमण जैन विधि-विधानों का नवनीत है। यह विधान आत्मा को अपने लक्ष्य तक पहुँचाता है। श्रमण एवं श्रावक जीवन की यह एक आवश्यक नित्य साधना है। जैन ग्रन्थों में प्ररूपित समस्त विधि-विधानों का सार आत्म विशुद्धि एवं मोक्ष तत्त्व की प्राप्ति है। प्रतिक्रमण दोष शुद्धि एवं आत्म संशुद्धि की Direct क्रिया है। प्रतिक्रमण एक महायोग है। योग अर्थात आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ने वाली साधना। मोक्ष प्राप्ति रूप योग में बाह्य और आभ्यंतर तप का समावेश होता है। इसमें भी आभ्यंतर तप का उत्कृष्ट स्थान है तथा आभ्यंतर तप में भी प्रायश्चित्त का प्रथम स्थान है। प्रतिक्रमण पापों के प्रायश्चित्त की क्रिया है। योगों में इसका उच्च स्थान होने से प्रतिक्रमण को महायोग कहा है। प्रतिक्रमण के अन्तर्गत विनय, ध्यान, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय का समावेश हो जाता है इसलिए भी यह एक महायोग है।

प्रतिक्रमण का तात्त्विक स्वरूप– कई बार प्रश्न उठता है कि जैन साधना विधानों में प्रतिक्रमण को इतनी महत्ता क्यों दी गई?

साधु-साध्वी को प्रत्येक क्रिया करने के बाद ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करने का निर्देश दिया है। श्रमण एवं श्रावक वर्ग को उभयकाल षडावश्यक करने का निर्देश है। उसी का एक अंग प्रतिक्रमण है। परंतु वर्तमान में षडावश्यक ही प्रतिक्रमण रूप में प्रचलित है। इसकी प्रमुखता के बारे में वर्णन करते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि संसारी आत्मा में अनेकानेक मलिन वृत्तियाँ है। उन भावों को समाप्त करने के लिए अनेक प्रकार के प्रतिकार चाहिए। एक प्रतिकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से सभी दोष नष्ट नहीं हो सकते। जैसे शरीर के विभिन्न अंगों का रोग दूर करने के लिए अनेक प्रकार की औषधियाँ लेनी पड़ती है। वैसे ही आत्मा के अनेक जाति के रोगों का निवारण करने के लिए भी अनेक उपाय चाहिए। प्रतिक्रमण की क्रिया में तथाविध अनेक उपायों का समावेश है।

यद्यपि प्रतिक्रमण षडावश्यक में समाविष्ट है फिर भी उन छहों में प्रतिक्रमण का महत्त्व कुछ विशिष्ट है। षडावश्यक की शेष क्रियाएँ जैसे– सामायिक, वंदन, कायोत्सर्ग, चतुर्विंशतिस्तव आदि की साधना स्वेच्छा से कभी भी की जा सकती है किन्तु प्रतिक्रमण क्रिया का एक निर्धारित समय है। परिस्थितिवश या अपवाद रूप में कभी कोई साधक उससे च्युत भले ही हो जाए परन्तु वस्तुत: वह उसे अन्य काल में नहीं कर सकता। शेष आवश्यकों में अन्य गुणों का चिंतन किया जाता है वहीं प्रतिक्रमण के द्वारा स्व दोषों का परिशीलन एवं परिशोधन करते हुए स्वयं को शुद्ध बनाया जाता है।

कई लोगों की मान्यता है कि प्रतिक्रमण एक बार पापों का क्षय कर पुन: उसी पाप कार्य को करने की छूट प्रदान करता है, किन्तु यह एक भ्रमित मान्यता है क्योंकि किसी भी गलत क्रिया को माफी मांगकर बार-बार दोहराना किसी भी प्रकार समुचित नहीं हो सकता। यदि ऐसा किया जाए तो फिर वह क्रिया मात्र तोता रटन बनकर रह जाती है। यथार्थ: प्रतिक्रमण कुसंस्कारों को विगलित करने का अचूक उपाय है।

प्रतिक्रमण के मुख्य हेतु– प्रतिक्रमण एक अन्तर्मुखी साधना है। अनंतकाल से आत्मा के साथ संलग्न विषय-कषायों को निष्कासित करने के लिए यह एक अपूर्व साधना है। शास्त्रकारों ने अपने अनुभव ज्ञान एवं मौलिक चिन्तन के आधार पर प्रतिक्रमण क्रिया के निम्न हेतु बताए हैं–

- क्रोधादि विकृतियों के निराकरण के लिए।
- मिथ्यात्व आदि दोषों का प्रक्षालन करने के लिए।
- भूलों का संशोधन करने के लिए।
- सम्यकदर्शन आदि की पुष्टि के लिए।
- पाप कर्मों का क्षय करने के लिए।

किन स्थितियों में प्रतिक्रमण करें? प्रतिक्रमण मन शुद्धि की एक अमूल्य विद्या है। हमारे द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप से अतिक्रमण की अनेक क्रियाएँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है, जिनसे दूसरों को कष्ट पहुँचता है एवं अपनी आत्मा मलिन बनती है अत: जब भी दोष का सेवन हो जाए अथवा 'दोष सेवन किया है' यह ज्ञान हो जाए उसी समय साधक को 'मिच्छामि दुक्कडम्' कहकर प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए। ग्रंथकारों के अनुसार जब तक पाप का प्रतिक्रमण न किया जाए तब तक आत्म शुद्धि नहीं होती। कृत पाप कार्य का अनुबंध निरंतर चलता रहता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने निम्न स्थितियों में मुनि को प्रतिक्रमण करने का निर्देश दिया है–

- वस्त्र, पात्र एवं वसति आदि की प्रतिलेखना और प्रमार्जना करने पर।
- अवशिष्ट भक्तपान का परिष्ठापन करने पर।
- उपाश्रय का काजा (कचरा) निकालने पर।
- उपाश्रय से सौ हाथ की दूरी निश्चित कर मुहूर्त्त भर उस स्थान में ठहरने पर।
- विहार, स्थंडिलगमन, भिक्षाचर्या आदि गमनागमन रूप प्रवृत्ति से निवृत्त होने पर।
- नौका द्वारा जलमार्ग पार करने पर।
- प्रतिषिद्ध आचरण करने पर।
- स्वाध्याय आदि वंदनीय कार्य नहीं करने पर।
- तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों के प्रति अश्रद्धा होने पर।
- जिनमत के विपरीत प्ररूपणा करने पर।

श्रावकों को किन स्थितियों में प्रतिक्रमण करना चाहिए? इस सम्बन्ध में कोई पृथक उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं होते। प्रचलित परम्परा एवं परवर्ती कृतियों के आधार पर निम्न स्थितियाँ प्रतिक्रमण करने योग्य प्रतिभासित होती है।

- पौषधव्रती एवं उपधानवाही द्वारा वसति के कचरे (काजा) का परिष्ठापन करने पर।
- वस्त्र आदि की प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना करने पर।
- उपाश्रय से सौ हाथ की दूरी तक गमनागमन करने पर
- मल-मूत्र आदि का परिष्ठापन या तद्योग्य क्रिया करने पर
- सामान्य श्रावक के लिए सामायिक आदि धार्मिक अनुष्ठान करते समय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

• दिवस, रात्रि, पक्ष, चातुर्मास या संवत्सर में लगे हुए दोषों से निवृत्त होने के लिए प्रतिक्रमण करना चाहिए।

प्रतिदिन प्रतिक्रमण क्यों करना चाहिए? मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि के कारण जाने-अनजाने जीव अशुभ प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है अत: प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। इससे जीव पाप कर्म करने में रुक जाता है। पश्चात्ताप करने से चित्त की विशुद्धि होती है।

पाप कर्म प्रतिदिन होते हैं अत: उन्हें क्षीण करने की क्रिया भी प्रतिदिन होनी चाहिए। जिस प्रकार वस्त्र, बर्तन आदि थोड़े से मैले होने पर धो लिए जाए तो जल्दी साफ हो जाते हैं अन्यथा समय के अनुसार मेहनत भी बढ़ती जाती है। वैसे ही अधिक पापकर्म एकत्रित होने पर उन्हें क्षीण करने हेतु भी उतना अधिक प्रयास करना पड़ता है। जैनाचार्यों ने आत्मा को अधिक मलिन होने से बचाने के लिए ही इसकी नित्य नियमबद्धता पर जोर दिया है।

गलतियाँ करके छिपाना यह वर्तमान में अधिकांश लोगों की मानसिकता है। इस विकृति से मुक्ति पाने के लिए प्रतिक्रमण श्रेष्ठ औषधि है।

षडावश्यक रूप क्रिया को प्रतिक्रमण अभिधान क्यों? आवश्यक मूल रूप से छः आवश्यक क्रियाओं का संयोग है परन्तु वर्तमान में इसे प्रतिक्रमण रूप में ही जाना जाता है। इसके निम्न कारण हो सकते हैं–

प्रतिक्रमण चतुर्थ आवश्यक है और सब आवश्यकों में अक्षर प्रमाण में बड़ा है अत: सभी आवश्यकों को प्रतिक्रमण नाम से पुकारा जाता है। दूसरा हेतु यह है कि भगवान महावीर का धर्म सप्रतिक्रमण धर्म है अत: साधक के लिए प्रतिदिन दोनों समय प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। अन्य सामायिक, कायोत्सर्ग, वंदन आदि आवश्यक प्रतिक्रमण आवश्यक की पूर्व भूमिका एवं उत्तर क्रिया के रूप में ही प्राय: होते हैं। इसीलिए सभी आवश्यकों को प्रतिक्रमण नाम से सम्बोधित किया जाता है।

प्रतिक्रमण सभी के लिए आवश्यक क्यों? जैनागमों में प्रतिक्रमण को आवश्यक कहा गया है। 'अवश्यं करणीयत्वाद् आवश्यकम्' अर्थात जो अवश्य करणीय हो वह आवश्यक कहलाता है। साधु और श्रावक दोनों के लिए यह नितांत जरूरी कहा गया है। सर्वविरति और देशविरति साधकों के लिए इसकी नियमितता समझ में आती है। परन्तु अविरति साधक व्रत रहित होने से उन्हें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतिचार नहीं लगते तो फिर उनके लिए प्रतिक्रमण करना जरूरी क्यों? प्रज्ञाशील शास्त्रकारों ने इसका समाधान देते हुए कहा है कि व्रती एवं अव्रती दोनों को ही प्रतिक्रमण करना चाहिए।

प्रतिक्रमण का हेतु मात्र अतिचारों की शुद्धि ही नहीं है। वंदितु सूत्र के अनुसार "पडिसिद्धाणं करणे किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं" अर्थात वीतराग परमात्मा द्वारा निषिद्ध कार्य करने पर, उपदिष्ट या करणीय कार्य न करने पर, जिन वचन में अश्रद्धा रखने पर एवं जिनेश्वर द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के विरुद्ध विचारों का प्रतिपादन करने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए अत: चाहे अविरति हो, देशविरति हो, चाहे सर्वविरति सभी के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है।

विविध दृष्टियों से प्रतिक्रमण की उपयोगिता– यदि गवेषणात्मक दृष्टि से प्रतिक्रमण की महत्ता के विषय में चिंतन करें तो निम्न बिन्दु उसकी महत्ता को उजागर करते हैं–

- साधु-साध्वियों के लिए निर्दिष्ट दस कल्पों में से एक प्रतिक्रमण है।
- प्रतिक्रमण एक प्रकार का प्रायश्चित्त है अत: आभ्यंतर तप के समान यह आत्म विशुद्धि में सहायक है।
- प्रतिक्रमण के द्वारा लौकिक एवं लोकोत्तर कल्याण होता है।
- प्रतिक्रमण यह पाप शुद्धि की क्रिया है। पाप विशुद्धि के दौरान 'मित्ति में सव्व भूएसु' के द्वारा जगत मैत्री की कल्पना की जाती है।
- प्रतिक्रमण ध्यान का पहला चरण है क्योंकि यह जीव को निज स्वरूप की ओर उन्मुख करता है।

इंसी प्रकार अनेक अन्य पक्ष भी इसकी महत्ता को सुसिद्ध करते हैं।

इस शोध का मुख्य प्रयोजन– जैन ग्रन्थों में प्रतिक्रमण को जो महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए उसकी आवश्यक रूप में विवेचना की है आज वह स्थान धूमिल होता जा रहा है। साधु वर्ग में तो यह नियमित आवश्यक रूप में आज भी प्रवर्तित है परन्तु अधिकांश श्रावक वर्ग इसकी नित्य आराधना से अपरिचित है। आज की युवा पीढ़ी तो मात्र संवत्सरी को प्रतिक्रमण करना चाहिए यह जानती है। उसमें भी उसकी दीर्घ अवधि के कारण लोग उसे करने से कतराते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कई लोगों का कहना है कि संस्कृत एवं प्राकृत सूत्रों का अर्थ तो समझ में आता नहीं अत: जन प्रचलित भाषा में कर देना चाहिए। परंतु प्राय: हर नगर एवं प्रांत की भाषा में कुछ न कुछ अंतर होता है तो फिर प्रतिक्रमण किस भाषा में बनाया जाए? आज की व्यस्त जीवन शैली में लोग धार्मिक क्रियाओं को अनावश्यक एवं बोरिंग मानते हैं क्योंकि अधिकांश वर्ग उसकी मौलिकता एवं नियमबद्धता से अपरिचित है।

कई लोग ऐसे भी हैं जो प्रतिक्रमण करने के लिए करते हैं मगर उसे क्यों, कैसे, कब करना चाहिए, इसका कोई परिज्ञान नहीं है। ऐसे में यह क्रिया समुचित फल नहीं दे सकती।

इन्हीं सब पक्षों को ध्यान में रखते हुए एवं आज के आधुनिक युग में प्रतिक्रमण की महत्ता समझाने के लिए यह कृति सात अध्यायों में विभाजित की गई है।

प्रथम अध्याय में प्रतिक्रमण का अर्थ विश्लेषण करते हुए उसकी शाब्दिक महत्ता को उजागर किया है।

प्रतिक्रमण षडावश्यक में से चतुर्थ आवश्यक है। परन्तु आज इन षडावश्यकों को ही प्रतिक्रमण नाम से सम्बोधित किया जाता है। पाप स्वीकृति की यह क्रिया अपने आप में विशिष्ट महत्ता एवं अर्थवत्ता लिए हुए है। इसी महत्ता को प्रतिपादित करने हेतु प्रथम अध्याय में प्रतिक्रमण का अर्थ विश्लेषण करते हुए उसकी अनेक परिभाषाएँ बताई है। साथ ही प्रतिक्रमण कब करना चाहिए? इस सन्दर्भ में प्रतिक्रमण के दो, तीन, यावत आठ प्रकारों का उल्लेख किया है।

इस शोध खण्ड के **द्वितीय अध्याय** में प्रतिक्रमण के गूढ रहस्यों का विविध पक्षीय अनुसंधान किया है।

प्रतिक्रमण जैन साधना का आवश्यक अंग है। तीर्थंकरों द्वारा इस क्रिया का गुंफन विविध हेतुओं से किया गया। व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्र में इसकी अभिन्न आवश्यकता है और इसी कारण इसे आवश्यक कहा गया है। इसी आवश्यकता को पुष्ट करने हेतु प्रस्तुत अध्याय में प्रतिक्रमण क्यों? प्रतिक्रमण कौन किसका करें? प्रतिक्रमण कब करें? असंभव अतिचारों का प्रतिक्रमण क्यों? प्रतिक्रमण का महत्त्व सर्वाधिक क्यों? षडावश्यक की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रमिकता का रहस्य, विविध संदर्भों में उसकी मौलिकता आदि अनेक आवश्यक पहलुओं पर चर्चा की गई है।

प्रतिक्रमण एक सूत्रबद्ध क्रिया है। विविध सूत्रों के माध्यम से पंचाचार का पालन किया जाता है। ये सूत्र ही प्रतिक्रमण की आराधना एवं सफलता में हेतुभूत बनते हैं अत: इनके विषय में जानकारी होना अत्यावश्यक है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर **तृतीय अध्याय** में प्रतिक्रमण सूत्रों के प्रयोग का निर्देशन दिया गया है।

इस अध्याय में प्रतिक्रमण सूत्रों के शास्त्रीय नाम बताते हुए उन्हें कब, किस मुद्रा में और क्यों बोलना चाहिए यह बताया गया है। दैवसिक आदि प्रतिक्रमण में छ: आवश्यक का समावेश कैसे? प्रतिक्रमण में पंचाचार का पालन कैसे? प्रतिक्रमण में छ: आवश्यक कहाँ से कहाँ तक? सूत्रों का संक्षिप्त अर्थ एवं उनकी प्राचीनता आदि पर प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अध्याय प्रतिक्रमण आराधकों के लिए मूल्यवान है। इसमें समस्त परम्पराओं में प्रचलित विधियों का मौलिक स्वरूप दर्शाया गया है। जिससे आराधक अपनी सामाचारी के प्रति भ्रमित न हो। इसमें वर्तमान प्रचलित प्रतिक्रमण विधियों की पूर्ववर्ती ग्रन्थों से तुलना भी की है, जिससे प्रतिक्रमण का ऐतिहासिक स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है।

जैन विधि-विधानों में प्रतिक्रमण को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। महत्त्वपूर्ण क्रिया की आराधना यदि उतनी ही जागृति एवं आंतरिक जुड़ाव पूर्वक हो तो वह विशिष्ट फलदायी होती है। इस शोध कृति के **पंचम अध्याय** में प्रतिक्रमण की प्रत्येक विधि के हेतु बताए गए हैं तथा आधुनिक सन्दर्भों में उभरती तत्सम्बन्धी जिज्ञासाओं का सटीक समाधान किया है। इस अध्याय के माध्यम से हर क्रिया के रहस्य एवं उसकी वैज्ञानिक क्रमिकता को भलीभाँति समझा जा सकता है।

षष्ठम अध्याय प्रतिक्रमण शुद्धि पर अवलम्बित है। प्रतिक्रमण क्रिया निर्दोष रीति पूर्वक कैसे की जा सकती है? इस सम्बन्ध में कई नियमोपनियम हैं। हम व्यवहार जगत में हर क्रिया के लिए जितने सचेत एवं क्रियाशील रहते हैं आध्यात्मिक क्षेत्र में हम उतना ही प्रमाद करते हैं। कई लोगों के लिए यह क्रियाएँ मात्र एक परम्परा रूप है जिसका निर्वाह वे मात्र करने के लिए करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस अध्याय में वर्णित पहलुओं द्वारा उस यांत्रिक क्रिया में प्राण संचार हो पाएगा।

इस अध्याय में प्रतिक्रमण सम्बन्धी नियमोपनियमों का दिग्दर्शन करवाते हुए प्रतिक्रमण का समय, वन्दन के लिए आत्यावश्यक सतरह प्रमार्जना स्थान आदि अपेक्षित विधियों का निरूपण किया गया है। इसमें प्रतिक्रमण शुद्धि की दृष्टि से छींक दोष, बिल्ली दोष, सचित्त-अचित्त रज दोष आदि की निवारण विधियाँ बताई गई है।

सप्तम अध्याय उपसंहार रूप में प्रस्तुत किया गया है।

इस खण्ड लेखन का मुख्य उद्देश्य प्रतिक्रमण रूप आवश्यक क्रिया की प्राचीनता एवं मूल्यवत्ता से परिचित करवाते हुए उसे तदरूप स्थान दिलाना है। प्रतिक्रमण के द्वारा मात्र स्वकृत दोषों की आलोचना ही नहीं अपितु जीव मात्र से मैत्री पूर्ण सम्बन्ध की स्थापना होती है। यह कृति कर्मों के आक्रमण एवं मर्यादाओं के अतिक्रमण को रोककर दोषमुक्त जीवन जीने में सहायक बनेगी यही आकांक्षा है।

खण्ड-13

पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के सन्दर्भ में

पूजा विधि-विधानों का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। पूजा-उपासना, भक्ति आदि आर्य संस्कृति के मौलिक तत्त्व हैं। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर भारतीय संस्कृति आज चिरंजीवी है। मूर्ति और मन्दिर आर्य संस्कृति की धरोहर हैं। आर्य देश में पनप रहा कोई भी धर्म-संप्रदाय हो कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में वह श्रेष्ठ आलम्बन को आध्यात्मिक मार्ग पर प्रगति हेतु आवश्यक मानता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने और जीने के लिए उसे विविध आलंबनों की आवश्यकता रहती है। जन्म और पालन-पोषण के लिए माता-पिता, ज्ञानार्जन के लिए अध्यापक, रोग विमुक्ति के लिए डॉक्टर, रहने के लिए घर, व्यापार के लिए ऑफिस आदि। ऐसे ही साधना-उपासना के क्षेत्र में किसी न किसी आलंबन का सहारा लेकर ही विकास का मार्ग प्रशस्त किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जा सकता है। इसी आत्मोकर्ष की भावना को लेकर विविध साकार एवं निराकार आलंबनों का प्रादुर्भाव मानव समाज में हुआ।

जैन धर्म में आत्मोत्थान हेतु देव-गुरु-धर्म रूप तत्त्वत्रयी का आलंबन स्वीकार किया जाता है। सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा को देव रूप एवं उनके आज्ञा पालक मुनि भगवंतों को गुरु रूप में स्वीकार किया गया है। इन आलंबनों को अपना जीवन आदर्श मानते हुए प्राच्य काल से उनके पूजन आदि का विधान देखा जाता है। जिनपूजा आदि के माध्यम से पूजनीय व्यक्ति का समुचित आदर-सम्मान होता है।

जिनपूजा क्यों करनी चाहिए? परमात्म भक्ति मानव जीवन की महानतम पूँजी है। आत्मा को साधना से समृद्ध करने का अनुपम माध्यम है। मुक्ति फल की प्राप्ति हेतु कल्पवृक्ष के तुल्य है। धर्म रूपी महल में प्रवेश करने के चार मुख्य द्वारों में से प्रथम द्वार जिनपूजा को बताया गया है। पूर्वाचार्यों ने 'पूज्यमाने जिनेश्वरे' पद के आधार पर जिनपूजा का फल बताते हुए कहा है कि परमात्मा की पूजा से समस्त उपसर्गों का क्षय हो जाता है, विघ्न रूपी वलय का छेदन हो जाता है तथा मन विषाद रहित होकर अद्भुत प्रसन्नता को प्राप्त करता है।

आज के युग में जब जीवन व्यस्तता की ओर निरंतर आमुख होता जा रहा है। शान्ति के कुछ पल मिलना भी मानव के लिए दुष्कर है। इस अवस्था में जिन दर्शन-पूजन के माध्यम से सांसारिक झंझटों से छुटकारा मिल जाता है। जिनप्रतिमा के दर्शन-पूजन से जो प्रभाव हृदय पटल पर उत्कीर्ण होता है उसे सच्चे रूप में महसूस करने वाला निजानन्द की अनुभूति करता है। मन-मस्तिष्क की एकाग्रता के कारण हृदय पवित्र हो जाता है एवं कर्मों का आवरण ढीला पड़ जाता है। कषाय आदि भी न्यून हो जाते हैं।

जिन पूजा के माध्यम से जीव को निज स्वरूप का भान होता है। जैन आगमों में कहा गया है कि 'जिन प्रतिमा जिन सारखी जाणो' अतः जिनप्रतिमा के पूजन से साक्षात जिनेश्वर की भक्ति का लाभ मिलता है और वह भक्ति मुक्ति प्राप्ति में हेतुभूत बनती है।

इसके माध्यम से हमारी सांस्कृतिक धरोहर चिरस्थायी रहती है। भारतीय मन्दिर एवं प्रतिमाएँ शिल्प का ऐतिहासिक प्रमाण हैं। इसके माध्यम से आज सम्पूर्ण विश्व में भारतीय संस्कृति सुविख्यात है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानव समाज का ऊर्जा केन्द्र जिनालय– मन्दिर कहने को तो परमात्मा का निवास स्थान है। परंतु यदि सूक्ष्मता पूर्वक विचार करें तो मन्दिर मानव समाज के लिए वरदान है। मानव को महामानव बनाने का प्रमुख सोपान है। कल्याण भाव प्रदायक यह मन्दिर आत्म शान्ति का दिव्य निकेतन है। दुर्भावना रूपी कीचड़ को दूर करने के लिए अस्खलित भावों की प्रवाहमान सरिता के समान है। आत्मोन्नति के मार्ग पर गतिमान होने के लिए मंदिर निष्कंटक राजमार्ग के समान है। अपनी वैचारिक सत्-असत् प्रवृत्तियों के दर्शन के लिए यह एक दिव्य दर्पण के समान है। आत्मा की सुषुप्त शक्तियों को जगाने के लिए घंटाघर के समान है। आज की विषम परिस्थितियों में जिनमन्दिर एक विद्युत दीप के समान है जो अपने ज्ञान प्रकाश द्वारा अभिष्ट मार्ग पर ले जाता है। मार्ग पतित मनुष्यों के लिए जिन मंदिर एक सच्चे सलाहकार के समान है जो सद्शिक्षा प्रदान करता है।

नमुत्थुणं सूत्र के अनुसार तीर्थंकर परमात्मा मार्ग दाता है अत: जिनमन्दिर हर मनुष्य को सच्चा मार्ग बताने वाले मार्गदर्शक और जीवन साधना का सदुपदेश देने वाले सच्चे उपदेशक हैं। जिनमन्दिर एक मजबूत और सुरक्षित नाव है जिसके द्वारा संसार समुद्र को पार किया जा सकता है।

जिनालय में प्रतिष्ठित जिन प्रतिमा मानव जगत के लिए मुख्य ऊर्जा केन्द्र है।

जिनपूजा आगम युग से अब तक– जिनपूजा एक आगमिक विधान है। प्राचीन काल से किसी न किसी रूप में आराध्य की पूजा उपासना होती रही है। आगम युग से अब तक पूजा पद्धति में अनेक प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं। आगम युग में जहाँ सर्वोपचारी पूजा का विधान था वहाँ आज मात्र अष्टप्रकारी पूजा तक सीमित रह गया है। वर्तमान श्रावक वर्ग इसी से परिचित है और यही पूजन विधान सर्वत्र प्रचलित है।

इसके माध्यम से व्यक्ति का समय, द्रव्य एवं जीवन तीनों ही सार्थक होते हैं। अष्टप्रकारी पूजा के रूप में आराधक मात्र परमात्मा को द्रव्य अर्पित ही नहीं करता अपितु उस द्रव्य अर्पण के माध्यम से वह परमात्मा के साथ अपना एक सम्बन्ध स्थापित करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कई लोग प्रश्न करते हैं कि परमात्मा तो वीतरागी हो चुके हैं, फिर उनका पूजन आदि क्यों किया जाता है?

परमात्मा वीतरागी है अत: उनकी पूजा या निंदा से उन्हें कोई फरक नहीं पड़ता। वस्तुत: परमात्मा को पूजा की कोई आवश्यकता नहीं है। साधक परमात्मा की प्रभुता को पाने के लिए उनकी पूजा करता है। जल पूजा के माध्यम से वह अपनी आत्मा पर लगे कर्म मल को उतारने की भावना करता है। पुष्प पूजा के द्वारा स्वयं के हृदय को परमात्मा के समान कोमल एवं सद्गुणों से सुवासित करने की भावना करता है। अक्षत पूजा के द्वारा अपने सच्चे आत्म स्वरूप की अनुभूति करता है। भाव पूजा के द्वारा परमात्मा के गुणों का चिंतन करते हुए अपने आप को परमात्म स्वरूप प्राप्ति के पथ पर अग्रसर करता है।

जिनपूजा एक वैज्ञानिक प्रक्रिया कैसे? जिनपूजा मुख्य रूप से एक अध्यात्म सभर क्रिया है, परंतु हमारे ऋषि-मुनियों ने अपनी साधना एवं ज्ञान विशारदता के माध्यम से इसमें अनेक अन्य तथ्यों का समावेश किया है। भारतीय संस्कृति एक प्राकृतिक संस्कृति है। प्रकृति के साथ चलने से अच्छे स्वास्थ्य की प्राप्ति निश्चित है। जिनपूजा पूर्णत: प्रकृति पर आधारित है। जिनपूजा हेतु शारीरिक स्वच्छता को महत्त्व दिया गया है जैसे– देह शुद्धि, वस्त्र शुद्धि, मुख शुद्धि आदि। इसी प्रकार पूजा उपयोगी सामग्री एवं स्थान की शुद्धता को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। जिनपूजा में प्रयुक्त सुगन्धित द्रव्य जैसे कि पुष्प, चन्दन, केशर, इत्र आदि का शारीरिक निरोगता एवं मानसिक प्रसन्नता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनेक रोगों का निवारण इनके कारण स्वयमेव हो जाता है। पंचामृत के स्पर्श से नाखून का विष हल्का पड़ जाता है। फूलों की सुगन्ध मस्तिष्क सम्बन्धी रोग उत्पन्न नहीं करती। धूप विषैले जीवों से बचाव करता है। शिखरजी, पालीताना आदि के पहाड़ चढ़ने से रक्त की शुद्धि होती है तथा रक्तचाप नियंत्रित रहता है।

अनामिका अंगुली द्वारा पूजा करने से हृदय शक्तिशाली बनता है एवं तत्सम्बन्धी रोगों का निदान होता है। पूजा हेतु नंगे पैर चलने से एक्युप्रेशर हो जाता है। पूजा में प्रयुक्त विविध मुद्राएँ भिन्न-भिन्न चक्रों को विशेष रूप से जागृत करती हैं। भाव पूजा के दौरान प्रणिधान त्रिक के परिपालन से एकाग्रता में वृद्धि होती है। तनाव मुक्ति के लिए जिनपूजा एक सफल प्रयोग है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनपूजा की पारमार्थिक महत्ता– यदि पारमार्थिक दृष्टि से जिनपूजा की महत्ता के विषय में चिंतन करें तो ज्ञात होता है कि जिनपूजा पूजक को पूज्यता प्राप्त करवाती है। आत्मा को परमात्मा बनाती है। चित्त की प्रसन्नता के साथ की गई परमात्म पूजा अनेक गुणा लाभ देती है जैसे– पाँच कोड़ी के पुष्पों से पूजा करके पल्लिपति जयताक कुमारपाल महाराजा बना।

महानिशीथसूत्र के अनुसार एकाग्रता पूर्वक चैत्यपूजा, अर्चना आदि करने से मनवांछित की प्राप्ति होती है।

जिनदर्शन द्वारा स्वयं के शुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है। जैसे ज्योति से ज्योति प्रकट होती है वैसे ही जिनदर्शन-पूजन से आत्मा परमात्मा बनती है। आस्था पूर्वक की गई पूजा दुःख एवं दरिद्रता का नाश करती है। शास्त्रोल्लेख के अनुसार

दर्शनाद् दुरित ध्वंसि, वन्दनात् वांछित प्रदः ।
पूजनात् पूजकः श्रीणां, जिनः साक्षात् सुरद्रुमः ।।

जिनपूजन आठों कर्मों के क्षय में हेतुभूत बनता है एवं परिणाम विशुद्धि के माध्यम से शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करवाता है।

भक्ति वृद्धि का राजमार्ग-त्रिकाल पूजा– श्रावक के आवश्यक कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए जैनाचार्यों ने श्रावक के लिए त्रिकाल पूजा का विधान बताया है। गृहस्थ के दैनिक जीवन में परमात्म भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह जीवन में सद्गुणों एवं सद्भावों का निर्माण करती है।

जिस प्रकार डॉक्टर की दवा तीन बार लेने पर शीघ्र फायदा करती है वैसे ही परमात्मा के त्रिकाल दर्शन आत्मा की बैटरी को चार्ज करते हैं। किसी भी क्रिया को बार-बार करने पर उसके संस्कार गाढ़ होते हैं। प्रत्येक आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य परमात्म स्वरूप की प्राप्ति है। त्रिकाल पूजा के द्वारा बार-बार परमात्मा के दर्शन होते रहते हैं। इससे परमात्मा का स्वरूप पूजक के अन्तःस्थल में स्थिर हो जाता है। त्रिकाल पूजा का महत्त्व दर्शाते हुए शास्त्रकारों ने कहा है–

जिनस्य पूजनं हन्ति, प्रातः पाप निशा भवम् ।
आजन्म विहित मध्ये, सप्त जन्मकृतः निशि ।।

अर्थात परमात्मा की प्रातःकालीन पूजा रात्रि के पापों का नाश करती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोपहर की पूजा से इस भव के पापों का नाश होता है तथा संध्याकालीन पूजा से सात जन्म के पाप विनष्ट होते हैं।

जिस प्रकार एक जौहरी रत्न का सही मूल्य जानने के लिए बार-बार उसकी परख करता है वैसे ही परमात्मा की सच्ची पहचान करने के लिए परमात्मा के बार-बार दर्शन करने चाहिए।

जिनपूजा में अहिंसा की सिद्धि– कई लोग कहते हैं कि परमात्मा को जल, पुष्प आदि सचित्त द्रव्य चढ़ाने में हिंसा होती है अत: द्रव्य पूजा हिंसा युक्त है। तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा को परिभाषित करते हुए कहा है 'प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' प्रमादवश कार्य करना या किसी जीव के प्राणों को क्षति पहुँचाना हिंसा है। जबकि पूजा विधान के दौरान अप्रमत्त रहना आवश्यक है। परमात्मा को द्रव्य अर्पण करने में हिंसा नहीं होती अपितु जिनपूजा के माध्यम से उत्कृष्ट निरवद्य अहिंसा का पालन होता है। चढ़ाए जाने वाले पुष्प आदि को अभयदान मिलता है अत: जिनपूजा हिंसाजन्य नहीं है। वस्तुत: जिनपूजा करने से जिनाज्ञा का पालन होता है।

वर्तमान संदर्भों में जिनपूजा पर शोध की आवश्यकता– जिनपूजा जैन आचार का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। जिस प्रकार षडावश्यक की आराधना श्रावक एवं श्रमण वर्ग के लिए आवश्यक है वैसे ही जिनपूजा भी दोनों वर्गों के लिए आवश्यक है। श्रावक के लिए जहाँ द्रव्य पूजा एवं भावपूजा दोनों ही आवश्यक है वहीं साधु के लिए मात्र भाव पूजा का विधान है। शास्त्रकारों ने श्रावक के लिए त्रिकाल पूजा दर्शन का विधान किया है।

परंतु आज की परिस्थितियाँ एकदम भिन्न है। आज का श्रावक वर्ग नाम से अवश्य श्रावक है परंतु उसकी क्रियाएँ शास्त्रोक्त श्रावक के समान नहीं है। आज त्रिकाल पूजा छोड़कर श्रावकों को एक समय परमात्म दर्शन करने का भी समय नहीं है। परमात्म भक्ति, पूजा आदि से लोगों की श्रद्धा हटती जा रही है। व्यस्त जीवन शैली एवं भ्रमित मान्यताओं के कारण लोगों ने पूजा-पाठ को आडम्बर या अनावश्यक कार्य की संज्ञा देकर रखी है।

जो लोग सेवा पूजा नियम से करते हैं उन्हें भी सही विधि का ज्ञान नहीं है। मात्र पूर्वानुकरण करते हुए क्रियाएँ की जाती है। सही अभिप्राय जानने का समय और साधन लोगों के पास नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस कृति के माध्यम से जिज्ञासु श्रावक वर्ग को जिनपूजा की महत्ता, आवश्यकता एवं ऐतिहासिकता से परिचित करवाने का लघु प्रयास किया है। यह खंड कुल ग्यारह अध्यायों में उपविभाजित है।

प्रथम अध्याय में जिनपूजा के सैद्धान्तिक स्वरूप का वर्णन करते हुए उसके विविध प्रकारों की चर्चा की गई है।

सामान्यतया किसी का भी आदर, सत्कार आदि करना पूजा कहलाता है। यदि जैन वाङ्गमय का परिशीलन करें तो आगम युग से अब तक पूजा के अनेक प्रकार परिलक्षित होते हैं। शास्त्रकारों ने विविध अपेक्षाओं से पूजा के एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, आठ, चौदह, सत्तरह, इक्कीस, एक सौ आठ, एक हजार आठ आदि अनेक भेदों का वर्णन किया है।

प्रस्तुत अध्याय में जिन धर्म में प्रचलित उन्हीं प्रकारों का प्रामाणिक संक्षिप्त वर्णन किया है।

इस खण्ड का **द्वितीय अध्याय** जिनपूजा सम्बन्धी विधि-विधानों से सन्दर्भित है। जिनपूजा एक दैनिक अनुष्ठान है। इसके सम्यक परिणाम तभी प्राप्त हो सकते हैं जब इसकी सविधि समुचित आराधना की जाए। कार्य छोटा हो या बड़ा वह विधि पूर्वक करने पर ही सुपरिणाम देता है। किसी भी विधि में Shortcut अपनाने से उस कार्य में कोई न कोई कमी रह ही जाती है। इसी पहलू को ध्यान में रखकर द्वितीय अध्याय में जिनपूजा सम्बन्धी विधानों का विस्तृत एवं क्रमिक वर्णन किया गया है। जिससे श्रावक वर्ग समुचित विधि से परिचित हो जाएं।

तृतीय अध्याय में जीत व्यवहार में प्रचलित अष्टप्रकारी पूजा का बहुपक्षीय अनुशीलन किया गया है।

जिनपूजा एक आगमिक विधान है। आगम काल से इसके अनेक प्रकार परिलक्षित होते हैं। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप श्रावक वर्ग के लिए मात्र अष्टप्रकारी पूजा का विधान है। परंतु आज अधिकांश श्रावक वर्ग प्रमाद के कारण इसका भी अनुसरण नहीं करते। अष्टप्रकारी पूजा के महत्त्व एवं उसके विविध पक्षों से अवगत करवाने हेतु तृतीय अध्याय का लेखन किया गया है।

इस अध्याय में सर्वप्रथम अष्टप्रकारी पूजा की विधि एवं दोहों का सार्थ विवेचन किया गया है। तदनन्तर प्रत्येक पूजा के विविध पक्षों को उजागर करने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेतु उसके अर्थ, महत्त्व, प्रयोजन, तत्सम्बन्धी जनधारणा, विविध शंकाओं एवं विधियों का वर्णन किया है। इसी के साथ इसमें हर पूजा विषयक सावधानियाँ एवं उस समय करने योग्य भावों का भी चिंतन किया है।

यह अध्याय अष्टप्रकारी पूजा का सारभूत परिचय करवाता है। तृतीय अध्याय में द्रव्य पूजा का सम्पूर्ण वर्णन करने के बाद **चतुर्थ अध्याय** में भाव पूजा के विविध घटकों की चर्चा की है।

'भावना भव नाशिनी' यह छोटा सा पद भावों की महत्ता का बहुत ही सुंदर विवेचन करता है। भावों के आधार पर ही जीव निगोद से मोक्ष की यात्रा करता है। भाव जगत का परिशोधन करते हुए मरुदेवी एवं बाहुबली ने मोक्ष की प्राप्ति की। जिस पूजा में भावों की प्रधानता हो वह भाव पूजा है। जिनस्तुति, चैत्यवंदन आदि का समावेश भाव पूजा में ही होता है। वर्णित अध्याय में भाव पूजा के मननीय पहलुओं पर चिंतन करते हुए तीन प्रकार के चैत्यवंदन, चैत्यवंदन विधि के विविध लाभ, भाव पूजा से पूर्व इरियावहियं सूत्र क्यों? चैत्यवंदन विधि की पारमार्थिक उपादेयता, परमात्मा के समक्ष स्तुति, स्तवन आदि क्यों बोलना? स्तवन कैसा हो? उसके प्रभाव आदि विषयों का विवरण प्रस्तुत किया है।

पंचम अध्याय जिनमन्दिर विषयक आशातनाओं से सम्बन्धित है। आशातना जैन पारिभाषिक शब्द है। जिस कार्य के द्वारा आत्मा का निश्चित रूप से विनाश हो वह क्रिया आशातना कहलाती है। हम जिनमन्दिर कर्म निर्जरा हेतु जाते हैं परन्तु कई बार अविनय, अज्ञानता आदि के कारण आराधना के स्थान पर व्यक्ति विराधना कर लेता है। इस अध्याय में उन्हीं आशातनाओं से परिचित करवाने हेतु आशातना का सामान्य परिचय देते हुए चैत्यवंदन महाभाष्य में वर्णित पाँच आशातनाएँ तथा जिनमन्दिर सम्बन्धी 10, 40, 50, 84 आशातनाओं का उल्लेख किया है। इसी के साथ मन्दिर में साधर्मिक वर्ग, कर्मचारी आदि के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, पदाधिकारियों को क्या विवेक रखना चाहिए आदि की चर्चा भी की गई है।

किसी भी कार्य की सिद्धि में उसमें प्रयुक्त सामग्री महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। साधन की उपस्थिति में ही संपूर्ण एवं सफल साधना संभव है। प्रत्येक कार्य के लिए कुछ आवश्यक साधन-सामग्री का विधान है। जिनपूजा में सहयोगी सामग्री को हम जिनपूजा उपकरण के रूप में जानते हैं। इसमें भी जो वस्तुएँ मात्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक बार प्रयोग की जाती है वह उपादान कहलाती है।

षष्ठम अध्याय में जिनपूजा उपयोगी उपकरणों का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनका ऐतिहासिक विकास क्रम दर्शाया गया है। इसके माध्यम से विविध उपकरणों का सम्यक स्वरूप ज्ञात हो सकेगा।

सप्तम अध्याय जिनपूजा विधि की त्रैकालिक आवश्यकता एवं उसके अनुभूतिजन्य रहस्यों को प्रस्तुत करता है।

जिनपूजा एक त्रिकाल प्रासंगिक क्रिया है। हर काल में इसकी विद्यमानता रही है। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार इसमें अनेक परिवर्तन भी आए। प्रस्तुत अध्याय में ऐसे ही विविध विषयों की चर्चा की है।

इस अध्याय के अन्तर्गत विविध दृष्टियों से जिनपूजा तनावमुक्ति का उपाय किस तरह? आध्यात्मिक उत्कर्ष आदि में जिनपूजा की आवश्यकता, जिनपूजा एक रहस्यमय अभियान कैसे? लौकिक परिप्रेक्ष्य में तिलक की महत्ता, घंटनाद-शंखनाद का प्राकृतिक स्वरूप एवं कारण आदि अनेक रहस्यात्मक तथ्यों को उजागर किया है। इसके बाद त्रिकाल पूजा के विविध घटकों पर प्रकाश डालते हुए उसका बहुपक्षीय अध्ययन किया है। किसको, किस प्रकार परमात्मा के दरबार में जाना चाहिए? इसका शास्त्रीय उल्लेख करते हुए इसमें विविध परिप्रेक्ष्यों से प्रतिमा पूजन का उद्देश्य बताया है। तदनन्तर मानव जीवन में जिनपूजा की प्रमुखता दर्शाते हुए भाव पूजा के माहात्म्य को प्रकाशित किया है। इसी के साथ द्रव्य पूजा एवं भाव पूजा से सम्बन्धित अनेक पक्षों को उजागर किया है, जिससे जिनपूजा की सूक्ष्मता एवं उसके अनेकानेक लाभों का परिज्ञान हो सकें।

अष्टम अध्याय में जिनपूजा के शास्त्रोक्त प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। कई लोग जिनपूजा विषयक अनेक प्रकार की शंकाएँ एवं तर्क प्रस्तुत करते हैं। काल सापेक्ष जिनपूजा में अनेक प्रकार के परिवर्तन आए। कई परिवर्तन आवश्यक थे तो कुछ अनावश्यक तत्त्व भी प्रविष्ट हुए। उसी के विरोध में मूर्ति पूजा का विरोधी वर्ग उत्पन्न हुआ। आज उनके द्वारा जिनपूजा विरोधी अनेक पक्ष रखे जाते हैं। आडंबरों का विरोध करते-करते वे जिनपूजा के ही विरोधी हो गए। ऐसे ही अनेक पक्षों का समाधान प्रस्तुत अध्याय में किया है।

आलम्बन की महत्ता एवं उसके बदलते स्वरूप की चर्चा करते हुए इसमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनपूजा को सर्वश्रेष्ठ आलम्बन सिद्ध करने का प्रयास किया है। तत्पश्चात प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य में जिनपूजा का प्रमाण देते हुए सर्वप्रथम आगम साहित्य में उपलब्ध जिनपूजा के साक्ष्यों का उल्लेख किया है। इसके बाद मध्यकालीन एवं परवर्तीकालीन जिनपूजा विषयक रचनाओं का वर्णन करते हुए जिनपूजा विषयक कुछ ऐतिहासिक तथ्य एवं मूर्तिकला के गौरवपूर्ण इतिहास का वर्णन किया है। यह अध्याय जिनपूजा की सार्वकालिक महत्ता को सिद्ध करता है।

नवम अध्याय में सात क्षेत्र विषयक विविध पक्षों का समीक्षात्मक अनुशीलन किया गया है।

जैन दर्शन में श्रावक को अपने अर्थ का सद्व्यय करने हेतु सात क्षेत्र मुख्य रूप से बताए गए हैं। इन सात क्षेत्रों का एकत्रित द्रव्य चार क्षेत्रों में प्रयुक्त किया जाता है। कई बार प्रश्न होता है कि इन सात क्षेत्रों की विशेषता क्या है? इन्हें इतना महत्त्व क्यों दिया गया है? किस क्षेत्र की राशि कहाँ प्रयोग करें? आदि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में उन सभी प्रश्नों का समाधान करते हुए विविध आचार्यों के तद्विषयक मत को प्रस्तुत किया है।

इस कृति का **दशम अध्याय** जिज्ञासु वर्ग के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आज जिनपूजा एवं जिनमन्दिर विषयक अनेक प्रकार के प्रश्न युवा वर्ग द्वारा किए जाते हैं। कई बार कई गलत भ्रान्तियाँ भी मस्तिष्क में प्रस्थापित हो जाती है जो हमें जिनपूजा से दूर कर रही है।

प्रस्तुत अध्याय में इसी प्रकार के प्रश्नों को उठाते हुए वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका समाधान प्रस्तुत किया है। जैसे अधिष्ठायक देवों की देहरी मन्दिर में बनाना या नहीं? निर्माल्य द्रव्य का क्या करना चाहिए? परमात्मा के समक्ष गुरुवंदन कर सकते हैं या नहीं? त्रिकाल दर्शन की आवश्यकता क्यों? जिनमंदिर में कैसे वस्त्र पहनकर जाना आदि अनेक प्रासंगिक विषयों का वर्णन किया है।

इस कृति का अन्तिम अध्याय जिनपूजा सम्बन्धी विषयों की विविध पक्षीय तुलना एवं सारांश से सम्बन्धित है। इसमें जिनपूजा का ऐतिहासिक अनुशीलन करते हुए आगम काल से अब तक आए परिवर्तनों के परिणाम बताए हैं तथा वर्तमान में जिनपूजा की आवश्यकता को सुसिद्ध किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तुत कृति का उद्देश्य आज की व्यस्ततम जिंदगी में शान्ति एवं समाधि प्राप्ति के आवश्यक चरण के रूप में जिनपूजा से परिचित करवाना, निजत्व से जिनत्व की ओर अग्रेषित करना तथा जिनपूजा के वैविध्यपूर्ण गुणों एवं माहात्म्य को जग प्रसारित करते हुए भौतिकवादी वर्तमान पीढ़ी को भक्ति मार्ग पर आरूढ़ करना है।

खण्ड-14

प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में

जिनेश्वर प्ररूपित निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए सर्वप्रथम असद् प्रवृत्तियों को त्यागकर सद्प्रवृत्तियुत मार्ग पर गमन करना आवश्यक है। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध के मार्ग पर क्रमशः प्रवर्त्तन किया जा सकता है। विधि-विधानों का सर्जन मुख्य रूप से इसी कारण हुआ। मनुष्य का जीवन प्राय: सांसारिक कर्तव्यों को सम्पन्न करने में ही पूर्ण हो जाता है। पूरा दिन 'भजकलदारम्' की रटना में ही बीत जाता है अत: बन्धन कारक सांसारिक कृत्यों को करते हुए अपने अर्थ एवं समय का सदुपयोग करने हेतु कुछ अध्यात्मपरक अनुष्ठान आवश्यक है। इन आवश्यकों के गुंफन में द्रव्य शुद्धि एवं भाव शुद्धि को विशेष प्रमुखता दी गई है। वस्तुत: निवृत्ति पाने के मूल उद्देश्य से ही शुभ प्रवृत्तियाँ की जाती है। प्रतिष्ठा जैन विधि-विधानों में उल्लिखित ऐसा ही दिव्य अनुष्ठान है। यद्यपि अधिकांश लोग यही मानते हैं कि यह एक आडम्बर युक्त बृहद् अनुष्ठान है, परन्तु यदि सूक्ष्मता पूर्वक इनके शास्त्रोक्त रहस्यों को जाना और समझा जाए तो यह आध्यात्मिक उन्नति का प्राथमिक चरण है।

प्रतिष्ठा का प्रचलित स्वरूप– आज के समय में प्रतिष्ठा का अर्थ जिनालय में जिनबिम्ब की स्थापना, आठ दिन का भव्यातिभव्य उत्सव, राजशाही भोजन व्यवस्था, बेहिसाब खर्च एवं बोलियों द्वारा देवद्रव्य की वृद्धि ऐसा किया जाता है। परन्तु यथार्थत: प्रतिष्ठा अनुष्ठान द्वारा बाह्योपचार से जिनालय में जिनबिम्ब की स्थापना होती है और भावत: मानव मात्र के हृदय में जिनवाणी और जिनाज्ञा की प्रतिष्ठा की जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य हरिभद्रसूरि ने प्रतिष्ठा की परिभाषा करते हुए षोडशक प्रकरण में कहा है–

भवति च खलु प्रतिष्ठा निजभावस्यैव देवतोद्देशात् ।

देवता के उद्देश्य से स्व आत्मा में आगमोक्त रीति पूर्वक आत्म भावों की अत्यंत श्रेष्ठ स्थापना करना ही प्रतिष्ठा है। तदनुसार आत्मा में परमात्म पद प्राप्त करने की आवृत्त शक्ति को प्रकट या अभिव्यक्त करने का प्रयास करना प्रतिष्ठा है।

यदि प्रतिष्ठा अनुष्ठान की महत्ता के विषय में विचार करें तो गृहस्थ जीवन में जो महत्त्व विवाह का होता है आध्यात्मिक जीवन में वही महत्त्व प्रतिष्ठा अनुष्ठान का है। जिस प्रकार शादी के बाद व्यक्ति की पूरी जिन्दगी ही बदल जाती है वैसे ही प्रतिष्ठा अनुष्ठान के बाद समाज को सत्पथ पर प्रवृत्ति करने की नई दिशा प्राप्त होती है।

प्रतिष्ठा किसकी की जाए? यदि व्यवहारिक स्तर पर चिंतन करें तो प्रतिष्ठाचार्य के हृदयगत भावों की जब जिनप्रतिमा में प्रतिष्ठा होती है तब मात्र मन्दिर की ही प्रतिष्ठा नहीं होती अपितु भाई-भाई में प्रेम की प्रतिष्ठा, परिवार में समन्वय की प्रतिष्ठा, शरीर में स्वास्थ्य की प्रतिष्ठा, हृदय में सुमति और सद्भाव की प्रतिष्ठा, मन मन्दिर में प्रसन्नता की प्रतिष्ठा, देश में सुरक्षा और सदाचार की प्रतिष्ठा, विश्व में शांति और अहिंसा की प्रतिष्ठा तथा मानव मात्र के हृदय में श्रद्धा एवं मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा होती है। प्रतिष्ठाचार्य द्वारा इन्हीं भावों से की गई प्रतिष्ठा विश्व कल्याण की सूचक होती है।

प्रतिष्ठाचार्य की गुण सम्पन्नता आवश्यक क्यों? जितना महत्त्व प्रतिष्ठा अनुष्ठान का है उतना ही महत्त्व प्रतिष्ठाकारक आचार्य का है। प्रतिष्ठाचार्य और प्रतिष्ठा विधि दोनों का ही प्रतिष्ठा विधान में महनीय स्थान है। प्रतिष्ठा विधि की शुद्धता जितनी आवश्यक है उससे भी कई अधिक जरूरी है प्रतिष्ठाचार्य की सात्त्विकता, क्योंकि देवी शक्तियों का अवतरण सात्त्विक पुरुषों द्वारा ही किया जा सकता है। उनकी एकाग्रता, निर्भीकता, सतर्कता, कार्य दक्षता एवं ज्ञान गंभीरता ही प्रतिष्ठा विधान को सुफलदायी बनाती है।

एक घर का निर्माण कुछ वर्षों या दशकों के लिए होता है। हर आने वाली नई पीढ़ी अपनी आवश्यकता एवं फैशन के अनुसार उसमें परिवर्तन करवाती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। परंतु एक मंदिर का निर्माण सदियों का इतिहास लिखता है। आने वाले सैकड़ों वर्षों तक उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता अतः प्रतिष्ठाकर्ताओं का उत्तम होना अत्यंत आवश्यक है।

प्रतिमा आदि को प्रतिष्ठापित क्यों करना चाहिए? प्रायः लोगों के मन में यह प्रश्न कभी न कभी अवश्य उठता है कि प्रतिमा की पूज्यता तो पूजक की आन्तरिक श्रद्धा एवं समर्पण पर आधारित है तो फिर उसे पूज्यता प्रदान करने हेतु परिकर आदि को स्थिर कर प्रतिष्ठा कर्म करना आवश्यक क्यों?

विधिनिष्ठ आचार्य वर्धमानसूरि इसका सहेतुक समाधान करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार मुनिगण को आचार्य आदि योग्य पदों पर स्थापित करने से, ब्राह्मण वेद संस्कार से, राजपूत आदि राज्याभिषेक से, वैश्य श्रेष्ठि पद से, शुद्र राज्य सम्मान से प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं वैसे ही प्रतिष्ठा आदि विधानों द्वारा पाषाण निर्मित प्रतिमा पूज्यता को प्राप्त करती है। तिलक, पदाभिषेक आदि द्वारा पदधारी की कोई दैहिक पुष्टि नहीं होती बल्कि उक्त क्रियाओं द्वारा उनमें मंत्र आदि की दिव्य शक्ति का संचरण एवं जनसाधारण में तद्योग्य प्रसिद्धि होती है। इसी प्रकार पाषाण से निर्मित जिनेश्वर परमात्मा, शिव, विष्णु, क्षेत्रपाल आदि की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठा विधान द्वारा जनमानस के हृदय में विशेष पूज्यता एवं स्थान को प्राप्त करती हैं तथा उनकी प्रभावकता में वृद्धि होती है।

ज्ञातव्य है कि प्रतिष्ठा विधि द्वारा प्रतिमा में मोक्ष स्थित परमात्मा का अवतरण नहीं होता अपितु प्रतिष्ठाचार्य की विशिष्ट साधना शक्ति एवं सद्भाव जिन प्रतिमा में संक्रमित होते हैं। जिससे उसमें भगवद् स्वरूप की साक्षात अनुभूति होती है। सम्यग्दृष्टि अधिष्ठायक देव उन प्रतिमाओं की प्रभावकता में वृद्धि करते हैं।

भारतीय सभ्यता में मन्दिरों का स्थान– अति प्राचीन काल से ही मानव साकार धर्म की उपासना कर रहा है। जिस प्रकार धर्म, धर्मनायक, धर्म गुरु एवं धर्मसंस्थापक महापुरुषों की प्रतिमा पूज्य है उसी तरह उनकी प्रतिमा के रहने का स्थान भी पूज्य है। मन्दिर ही वह स्थान है जहाँ व्यक्ति का चंचल मन विश्रान्ति को प्राप्त करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदिकाल से ही मनुष्य साकार आलंबनों की पूजा करता रहा है। यद्यपि हर काल में इसका विरोध कभी लघु रूप में तो कभी बृहद स्तर पर होता रहा। कई बार विशाल मन्दिरों का विध्वंस भी किया गया तदुपरान्त धर्म स्थानों ने अपना वर्चस्व बनाए रखा। इन्हीं मन्दिर आदि आराधना स्थलों के रूप में धर्म का मूल दीर्घकाल तक टिका रहेगा।

मन्दिर सकारात्मक ऊर्जा के अनुभूत केन्द्र हैं। मन्दिरों की आकृति एवं मन्दिरों में होने वाले पूजा पाठ, मन्त्रोच्चार की ध्वनि आराधकों को सकारात्मक ऊर्जा प्रदान करती है। मन्दिर का शांत वातावरण चित्त की कलुषित वृत्तियों को समाप्त करता है। देवालय के पवित्र वायुमण्डल के प्रभाव से सहज ही प्रभु भक्ति, परमात्म अनुराग एवं उनके गुणों को ग्रहण करने की भावना उत्पन्न होती है।

मन्दिर स्थापनाकर्त्ता के अतिरिक्त हजारों वर्षों तक असंख्य लोग भगवान की निरन्तर पूजा-अर्चना करते हुए अपना आत्म कल्याण करते हैं। उन लोगों की विशुद्धि आराधना में मन्दिर हेतुभूत बनते हैं।

शास्त्रों में उल्लेख आता है कि प्रथम बार सम्यक दर्शन जिनेश्वर परमात्मा के पादमूल में ही होता है। इस दृष्टि से माना जा सकता है कि परमात्मा के अभाव में जिनबिम्ब के समक्ष अर्थात जिनालय में ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। मन्दिर के माध्यम से देव-गुरु-धर्म तीनों का ही सान्निध्य प्राप्त होता है।

प्रतिष्ठा से पूर्व मांगलिक अनुष्ठान क्यों? प्रतिष्ठा विधान को सर्वत्र एक मांगलिक अनुष्ठान के रूप में माना जाता है। प्रतिष्ठा अनुष्ठान की निर्विघ्नता के लिए अनेक मांगलिक अनुष्ठान भी किए जाते हैं। प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रतिष्ठा अनुष्ठान इतना महत्त्वपूर्ण क्यों?

आराध्य देवों की प्रतिमा के रूप में स्थापना करना एक शुभ क्रिया है। शुभ क्रियाओं को मांगलिक रूप से करना चाहिए। अरिहंत परमात्मा के वंदन एवं स्मरण को उत्कृष्ट मंगल माना गया है। प्रतिष्ठा अनुष्ठान में देव और गुरु दोनों ही तत्त्वों का समावेश हो जाता है।

लोक व्यवहार में हम देखते हैं कि किसी भी सत्कार्य को करने से पूर्व शुभ वर्धक कुछ मंगलकारी विधान किए जाते हैं। शुभ शकुन आदि के दर्शन किए जाते हैं जिससे वह निर्विघ्नता पूर्वक सम्पन्न हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कई लोग इन्हें अंधविश्वास मानते हैं तो कई अपनी-अपनी श्रद्धा का विषय। कुछ लोगों के अनुसार यह मंगल अनुष्ठान सहायक तत्त्वों के रूप में कार्य करते हैं तो कइयों के अनुसार यह पुरुषार्थ में कमी लाते हैं। प्रश्न होता है कि आखिर वस्तुस्थिति क्या है?

कुछ लोगों का कहना है कि अच्छे कार्य करने हो तो कर लेने चाहिए उसमें मंगल आदि की क्या आवश्यकता?

सुप्रसिद्ध लोकोक्ति है कि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' अर्थात श्रेष्ठ कार्य में अनेक विघ्न आते हैं। परीक्षा हमेशा सत्यवादी एवं दृढ़ मनोबली लोगों की ही होती है। यह विघ्न उन्हें तपाकर सोने की भाँति खरा बना देते हैं।

सामान्यतया यह देखा जाता है कि शुभ कार्यों में हजारों बाधाएँ आती है। मानसिक तैयारी श्रेष्ठ कार्यों के लिए ही करनी पड़ती है। इन कार्यों में विघ्न की उपस्थिति मनोबल को ढीला कर देती है। वही मंगल अनुष्ठान एक विधेयात्मक ऊर्जा शक्ति का निर्माण करते हैं जो उन कार्यों की पूर्णता में सहायक बनता है।

प्रतिष्ठा एक मौलिक अनुष्ठान– जैन विधि-विधानों के अन्तर्गत प्रतिष्ठा एक महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विधान माना जाता है। यह विधान किसी व्यक्ति विशेष से संबद्ध न होकर सकल संघ से जुड़ा हुआ होता है। प्रतिष्ठा के सुपरिणाम सम्पूर्ण नगर एवं राष्ट्र पर देखे जाते हैं। यह पाषाण को पूज्य बनाने का एक अभूतपूर्व अनुष्ठान है। जिन प्रतिमा को जिन रूप में स्थापित करने की अद्भुत प्रक्रिया है। साधकीय जीवन की सम्पूर्ण साधना का परीक्षण है। श्रेष्ठ भावों की अभिवृद्धि का मंगल उपक्रम है। बहिरात्मा से अन्तरात्मा में प्रवेश करने का श्रेष्ठ आलम्बन है।

प्रतिष्ठा अनुष्ठान स्वानुभव की प्राप्ति एवं शुद्ध अवस्था की उपलब्धि के उद्देश्य से किया जाता है। इस अनुष्ठान का मुख्य प्रयोजन अनादिकाल से सुप्त भगवत स्वरूप को जागृत करना है।

सामाजिक स्तर पर यदि चिंतन किया जाए तो प्रतिष्ठा अनुष्ठान में परमात्मा की स्थापना मात्र नहीं होती अपितु समाज के विभिन्न वर्गों को आपस में जुड़ने का अवसर प्राप्त होता है। युवा वर्ग को धर्म कृत्यों की जानकारी एवं प्रेरणा मिलती है। गुरु भगवंतो के आगमन से सत्संस्कारों का सिंचन होता है तथा जिनमन्दिर उन्हें स्थायित्व प्रदान करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिष्ठा विधान के अनन्तर आयोजित पंचकल्याणक आदि महोत्सव से सर्वप्रथम तो हृदय में शुभ भाव जागृत होते हैं। संसार के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न होता है। परमात्मा का जीवन एवं उनकी एक-एक घटना जीवन जीने की कला का ज्ञान करवाती है। धार्मिक दायित्वों के प्रति जागरूक करती है। इस तरह यह अनुष्ठान सर्वविरति एवं देशविरति के भावों को पुष्ट करता है तथा सिद्धत्व प्राप्ति के मार्ग को प्रशस्त करता है।

जिस प्रकार राजतिलक के बिना राजकुमार राजा नहीं बनता, शपथ लेने से पूर्व मंत्री, डॉक्टर, पुलिस आदि उस पद के संवैधानिक अधिकारी नहीं कहलाते उसी तरह अंजनशलाका प्रतिष्ठा आदि विधानों के बिना प्रतिमा संपूज्य नहीं बनती। प्रतिमा साक्षात अरिहंत की प्रतिकृति होती है। उसमें वीतरागमयी मुद्रा, संपूर्ण ज्ञानमयी गुणवत्ता, परमानंदमयी स्वरूपता, सर्व जीवों के प्रति कल्याण बुद्धि आदि समस्त गुणों की स्थापना प्रतिष्ठा विधि द्वारा की जाती है।

इस प्रकार प्रतिष्ठा महोत्सव भावों के प्रशस्तीकरण एवं शुद्धिकरण में सहायक बनता है। व्यक्ति के अन्तर्मन से दुर्भावों का परिहार करता है। सद्भावों का सर्जन करता है। समुदाय में रहने की कला, आपसी सामंजस्य, समभाव आदि के भावों का पोषण करता है।

वर्तमान संदर्भों में प्रतिष्ठा विधान की समीक्षा आवश्यक क्यों? यदि आधुनिक संदर्भों में विचार करें तो आज प्रतिष्ठा महोत्सवों का आयोजन तो बृहद् स्तर पर होने लगा है परंतु उसकी मौलिकता लुप्त होती जा रही है। आज प्रतिष्ठा विधान विषयक कई गलत धारणाएँ लोगों के मन मस्तिष्क में व्याप्त हो चुकी है। कई प्रमुख क्रियाओं का स्वरूप परिवर्तित होते-होते अपने मूल उद्देश्य से च्युत हो चुका है। कई मुख्य क्रियाएँ यथार्थ रहस्य को समझे बिना मात्र परम्परा अनुकरण रूप की जाती है। आज प्रतिष्ठा विधानों का मुख्य उद्देश्य उत्तमोत्तम व्यवस्था, राजशाही भोजन, बड़े-बड़े लोगों एवं सुप्रतिष्ठित विधिकारकों का आगमन आदि ही रह गया है। प्रतिष्ठा में जितनी अधिक आय होती है उस प्रतिष्ठा को उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। सर्वोत्तम भोजन करवाने हेतु कई बार भक्ष्य-अभक्ष्य रात्रि भोजन आदि का विवेक भी नहीं रखा जाता। यह सभी बातें प्रतिष्ठा के तात्त्विक स्वरूप को क्षीण करती जा रही है। आज का सुशिक्षित युवा वर्ग इसी कारण धर्म अनुष्ठानों से दूर होता जा रहा है। क्योंकि आज हर आयोजन का मुख्य हेतु पैसा बन गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन परिस्थितियों में आज इस अपूर्व विधान का सही स्वरूप जन सामान्य में प्रस्तुत करना जरूरी है। प्रतिष्ठा विधान के अन्तर्गत प्राय: हर विधान का समावेश हो जाता है अत: इस विधान की सम्यक साधना अत्यावश्यक है। प्रतिष्ठाचार्य, विधि-विधान, विधिकारक आदि की सात्विकता प्रतिष्ठा विधान का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसी के साथ विविध रूप में आयोजित होने वाले विधि-विधानों को एक सम्यक दिशा निर्देश देना अत्यावश्यक है।

शास्त्रोक्त वर्णन के अनुसार प्रतिष्ठा विधान करवाने का अधिकार मात्र आचार्यों को है। परन्तु वर्तमान में अंजनशलाका की हुई प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा साधु-साध्वी भी करवाते हैं। उसमें भी मुख्य स्थान विधिकारकों का ही होता है। वर्तमान में साधु-साध्वी न हो तो प्रतिष्ठा हो सकती है किन्तु विधिकारक का होना नितांत जरूरी है।

प्रतिष्ठा के समय नगरवासियों के क्या कर्तव्य होते हैं? प्रतिष्ठा संचालक मंडल को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए? किस विधि को किस रूप में किन भावों द्वारा सम्पन्न करना चाहिए? आदि अनेक पक्ष ज्ञातव्य हैं। प्रतिष्ठा जैसे महामंगलकारी विधान का सही स्वरूप जानकर ही आम जनता धर्म कर्म से अन्त:करण पूर्वक जुड़ सकती है, युवा वर्ग की भ्रान्तियाँ समाप्त हो सकती है। अत: इस बृहद् विधान के कुछ पक्षों को उद्घाटित करने का प्रयास यहाँ कर रहे हैं।

प्रतिष्ठा अनुष्ठान के विविध पक्षों से परिचित करवाने हेतु इस अध्याय को सोलह अध्यायों में विभाजित किया है।

प्रथम अध्याय में प्रतिष्ठा के शास्त्रोक्त अर्थ, उनके अभिप्राय एवं उनमें अन्तर्भूत रहस्यों को उजागर किया है।

सामान्यतया प्रतिष्ठा का अर्थ जिनबिम्ब में प्राणों का आरोपण समझा जाता है। कहीं-कहीं तो यह भी मान्यता है कि भगवान को स्वर्ग से बुलाकर मूर्ति में प्रतिष्ठित किया जाता है। जबकि वस्तुत: तो जिनबिम्ब में प्रतिष्ठाकारक आचार्य आदि के शुभ भावों का आरोपण किया जाता है। ऐसी ही जैन प्रचलित कई भ्रान्त मान्यताओं का निराकरण करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

दूसरे अध्याय में प्रतिष्ठा विधान के मुख्य अधिकारियों की चर्चा शास्त्रानुसार की गई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जहाज किनारे पर तभी पहुँचती है जब उसका नाविक श्रेष्ठ हो। अन्यथा वह कभी मंजिल तक पहुँच ही नहीं सकती। इसी भाँति क्रिया अनुष्ठानों में अनुष्ठान कर्त्ता अधिकारियों का तदयोग्य होना नितांत जरूरी है अन्यथा वे अनुष्ठान कभी भी सफल एवं सुपरिणामी नहीं बन सकते।

जैन विधि ग्रन्थों में इस विषयक पर्याप्त विवेचन प्राप्त होता है। प्रतिष्ठा एक विराट अनुष्ठान है। इसका प्रभाव व्यावहारिक, सामाजिक, आध्यात्मिक स्तर पर स्पष्ट रूप से देखा जाता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर दूसरे अध्याय में प्रतिष्ठा करवाने के अधिकारी आचार्य, गृहस्थ, शिल्पी, स्नात्रकार आदि विविध व्यक्तियों की योग्यता का वर्णन किया है।

तीसरे अध्याय में प्रतिष्ठा सम्बन्धी आवश्यक पक्षों का मूल्यपरक विश्लेषण किया गया है। आज का युग शोधपरक वैज्ञानिक युग है। युवावर्ग प्रत्येक क्रिया अनुष्ठान करने से पूर्व उसके कारण, परिणाम, रहस्य, लाभ आदि के विषय में जानना चाहता है। वर्तमान की व्यस्त जीवनशैली में लोग उन्हीं कार्यों हेतु समय देना चाहते हैं जिससे उन्हें फायदा हो। वर्तमान की इसी मानसिकता को ध्यान से रखकर इस अध्याय का लेखन किया गया है।

वर्णित अध्याय में प्रतिष्ठा के शास्त्रोक्त स्वरूप एवं उसके हेतुओं का प्रतिपादन करते हुए प्रतिष्ठा सम्बन्धी विविध पक्षों पर चर्चा की गई है। जैसे कि प्रतिष्ठा कब करवानी चाहिए? सुप्रतिष्ठा के लिए आवश्यक तत्त्व क्या है? अंजनशलाका-प्रतिष्ठा से पूर्व कौनसे कृत्य करने चाहिए? प्रतिष्ठाचार्य की वेश-भूषा कैसी हो? प्रतिष्ठा संस्कार किनका किया जाए? वर्तमान प्रचलित प्रतिष्ठा महोत्सव का क्रम आदि? सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा सम्बन्धी बोलियों का स्पष्टीकरण भी इस अध्याय में किया गया है।

आज के युग में धर्म-कर्म, पूजा-उपासना आदि को उम्रदराज या रिटायर्ड लोगों का कार्य माना जाता है। लोगों के पास Threatre, Club, Mall, Game Zone, Community centres आदि में जाने का समय है परंतु धार्मिक स्थलों एवं अनुष्ठानों में न जाने के लिए उनके पास अनेक बहाने हैं।

चौथे अध्याय में जिनालय की महत्ता को दर्शाने हेतु उसके मनोवैज्ञानिक एवं प्रासंगिक स्वरूप की चर्चा की गई है। इस अध्याय में प्रतिष्ठा को एक मंगल अनुष्ठान सिद्ध करते हुए जिनप्रतिमा, जिनालय आदि की आवश्यकता बताई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इसी के साथ जिनालय का शास्त्रोक्त माहात्म्य दर्शाते हुए जिनालय एवं जिनबिम्ब निर्माण के लाभ, सुप्रतिष्ठा के परिणाम आदि की चर्चा की है। इस वर्णन के माध्यम से जिन्दगी में शान्ति पाने के लिए इधर-उधर भटक रहे लोगों को जिनमन्दिर एवं जिनप्रतिमा की तेजस्विता और आलौकिक शान्ति का ज्ञान होगा। जिनमन्दिर में विराजित प्रशान्त मुख मुद्रा युक्त तेजस्वी जिन प्रतिमा का मनोयोगपूर्वक किया गया ध्यान एवं दर्शन हर प्रकार की समस्या का निदान कर सकता है। केवल आवश्यकता है उस शक्ति के प्रति श्रद्धा रखने की।

समय को सबसे बलवान माना गया है। इसीलिए जैन आगमकार कहते हैं– "कालं काले समायरे" समय के अनुसार आचरण करना चाहिए। प्रत्येक क्रिया करने का निश्चित समय होता है और उस काल में करने पर ही वह क्रिया सर्वाधिक लाभकारी होती है। सैकेंड के भी आंशिक भाग जितने अंतर के कारण Olympic Medal को हारने वाला व्यक्ति समय की मूल्यवत्ता को जानता है। ज्योतिष शास्त्र में मुहूर्त्त आदि की विचारणा में कुछ सैकेंड का फेर बदल सम्पूर्ण प्रभाव को ही बदल देता है।

जिनमन्दिर सकल संघ के अभ्युदय, शान्ति एवं मंगल में हेतुभूत बनता है। अत: उसके निर्माण सम्बन्धी क्रियाओं में मुहूर्त्त आदि सम्बन्धी विचार करना परमावश्यक है। **पाँचवें अध्याय** में मन्दिर निर्माण से सम्बन्धित खनन, शिलास्थापना, वेदी निर्माण, मंडप निर्माण, किवाड़ स्थापना, जिनप्रतिमा निर्माण, प्रतिष्ठा आदि प्रधान क्रियाओं की विवेचना करते हुए तद्योग्य आवश्यक मुहूर्त्त की चर्चा की गई है।

छठें अध्याय में जिनमन्दिर निर्माण की शास्त्रोक्त विधि बताई गई है। एक मन्दिर का निर्माण हजारों वर्षों का इतिहास लिखता है। जिनमन्दिर निर्माण कोई सामान्य बिल्डिंग या गृह निर्माण का कार्य नहीं है कि उसे इंजिनियर को कोन्ट्रेक्ट पर दे दिया जाए। आज एक घर बनाने से पहले व्यक्ति अनेक लोगों की सलाह लेता है ताकि वह सुंदर एवं सुव्यवस्थित गृह निर्माण कर सकें। तब जिनमन्दिर के निर्माण में कितनी सावधानी की आवश्यकता हो सकती है? गीतार्थ जैन आचार्यों ने इस सम्बन्ध में बहुत ही सूक्ष्म वर्णन किया है।

प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम जिनालय निर्माण सम्बन्धी पाँच मुख्य द्वार- भूमिशुद्धि, दलशुद्धि, भृतकानति संधान, स्वाशयवृद्धि और यतना की चर्चा की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इसी के साथ वर्तमान में उठाए जाने वाले अनेक प्रश्न जैसे कि जिनमन्दिर निर्माणगत हिंसा निर्दोष कैसे? मन्दिर में विविध स्थानों का निर्माण क्यों आदि? तदनन्तर मन्दिर निर्माण सम्बन्धी आवश्यक जानकारी, मन्दिर निर्माण के उपप्रकारों का परिचय, प्रासादों के विविध प्रकार, उनकी उत्पत्ति के कारण, जिनालय के परिसर सम्बन्धी अशुद्धताएँ और अपशकुन, जिनालय निर्माण सम्बन्धी दोष, शिल्पकार का बहुमान क्यों और कैसे? आदि विविध आवश्यक विषयों की चर्चा की गई है।

सातवें अध्याय में जिनबिम्ब निर्माण की शास्त्रोक्त विधि बताई गई है। यह सर्वमान्य सत्य है कि सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास में प्रार्थना स्थलों का विशेष स्थान है। इन स्थानों की प्रभावकता एवं आकर्षण का मुख्य केन्द्र होता है ततस्थित प्रार्थना आलंबन, फिर वह चाहे जिस रूप में हो। जिन प्रतिमा, आराधना का मुख्य आधार है। अत: उसके निर्माण में विवेक एवं सावधानी रखते हुए शास्त्र विहित नियमों का पालन करना अत्यावश्यक है। जिनबिम्ब निर्माण हेतु प्रयुक्त होने वाली शिला, निर्माणकर्त्ता शिल्पी, बिम्ब निर्माण प्रारंभ करने का मुहूर्त्त, दिशा आदि जिन प्रतिमा को विशेष प्रभावित करते हैं। इनके प्रति जितनी सचेष्टता रखी जाए जिनबिम्ब उतना ही अधिक ओजस्वी होता है।

उपरोक्त अध्याय में ऐसे ही विषयों की चर्चा करते हुए शिल्पकार के चयन, शिल्पकार एवं गृहस्थ के सम्बन्ध, शिल्प निर्माण के अष्टसूत्र, दिशा निर्णय, शिला परीक्षण विधि आदि के विषयों पर प्रकाश डाला है।

आठवाँ अध्याय जिन प्रतिमा सम्बन्धी विविध पक्षों की चर्चा से सम्बन्धित है। जिनप्रतिमा अर्थात तीर्थंकर परमात्मा की मूर्ति जो उनके साक्षात स्वरूप का आभास करवाने के लिए पाषाण, धातु, काष्ट, रत्न आदि द्रव्यों से निर्मित की जाती है। यह प्रतिमा अपने गुण विशेष के आधार पर वीतराग प्रभु की छवि का आभास करवाती है तथा उनके समान बनने की प्रेरणा देती है।

प्रतिमा का शाब्दिक अर्थ है प्रतिबिम्ब। सामान्यतया किसी भी धर्म या दर्शन से सम्बन्धित मूर्तियों के लिए प्रतिमा शब्द का प्रयोग होता है। मन्दिर में स्थापित प्रतिमा कैसी हो? उसकी स्थापना कहाँ हो? उसकी ऊँचाई आदि कितनी होनी चाहिए? कौन सी प्रतिमा क्या फल प्रदान करती है? हीनांग प्रतिमाएँ शुभ फल देती है या अशुभ? खण्डित प्रतिमाओं के परिणाम,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनमन्दिर की गिरती छाया का शुभाशुभ फल आदि अनेक विषयों को उजागर किया गया है।

जैन शास्त्रकारों ने हर विषय की चर्चा बहुत ही सूक्ष्म रूप से की है। जिनप्रतिमा भरवाना एक मंगलकारी अनुष्ठान माना गया है। उसके बाद भी उसके शुभ परिणामों को अधिक वर्धित करने हेतु किसे, कौन से तीर्थंकर की प्रतिमा भरवानी चाहिए इसकी चर्चा हमें जैन वाङ्गमय में प्राप्त होती है। जब भी किसी नगर में जिन मन्दिर निर्माण हेतु विचार किया जाता है तब सर्वप्रथम यह सुनिश्चित किया जाता है कि मन्दिर के मूलनायक कौनसे तीर्थंकर होंगे? मूलनायक के नाम से ही मन्दिर का नाम प्रसरित होता है। प्रतिष्ठा कल्पों के अनुसार प्रतिमा स्थापना कर्त्ता की जन्मराशि एवं नक्षत्र आदि से तीर्थंकर की नाम राशि का मिलान करना चाहिए। मन्दिर में मूलनायक का स्थान वही होता है जो नगर में राजा का होता है। राशि के अनुसार प्रतिमा स्थापित करने से नगर में किसी प्रकार का अनिष्ट उपद्रव नहीं होता। नगरजनों के मन में परमात्मा के प्रति अहोभाव उत्पन्न होते हैं। सर्वत्र आनंद एवं मंगल की स्थापना होती है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि वीतरागी तीर्थंकर किसी के लिए कम या अधिक लाभकारी कैसे हो सकते हैं? उनके हृदय में तो सभी के लिए समभाव की स्थिति है।

यथार्थतः तीर्थंकर प्रतिमा कम या अधिक लाभ नहीं करती। संसारी जीव के ग्रह, नक्षत्र आदि उसे प्रभावित करते हैं। जिस तीर्थंकर से उसके अधिक गुण मिलते हैं वह व्यावहारिक स्तर पर उसके लिए अधिक लाभकारी सिद्ध होती है। संसारी प्राणी लाभ-हानि को अधिक महत्त्व देता है। इसी कारण जैनाचार्यों ने राशि मिलान का विधान किया है।

प्रस्तुत **नौवें अध्याय** में किसे कौनसी प्रतिमा भरवानी चाहिए? इसका प्रामाणिक वर्णन किया है।

दसवें अध्याय के द्वारा अरिहन्त परमात्मा के पाँच कल्याणकों के अतिशय आदि का ज्ञान होता है तथा परमात्मा के प्रति अन्तरंग अहोभाव उत्पन्न होते हैं।

भक्त और भगवान के बीच हमेशा एक विशेष सम्बन्ध रहा है। भगवान का जीवन एवं वर्तन भक्त के लिए सदा आदर्श रूप रहा है। उनके जीवन घटनाओं से प्रेरित होकर ही भक्त अपने जीवन को एक नई दिशा देता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज के समय में व्यस्त जीवन शैली, आधुनिक विचारधारा एवं संकीर्ण मानसिकता को सुधारने के लिए पंच कल्याणक महोत्सव एक औषधि का कार्य करता है। व्यक्ति किस तरह अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर रहे, सुसंस्कारों की धारा को अखंडित रखे। इसके लिए पंचकल्याणक महोत्सव एक दिशाबोधक है।

इसी तथ्य को ध्यान में रखकर दसवें अध्याय में पंचकल्याणक महोत्सव के विविध घटकों की चर्चा की है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम तीर्थंकरों का परिचय देते हुए उनकी विविध पक्षीय चर्चा की है। तदनन्तर पंचकल्याण महोत्सव का वैशिष्ट्य बतलाने हेतु पाँचों कल्याणकों की विशद चर्चा की है। कौनसा कल्याणक क्यों, कब और कैसे? ये कल्याणक कौन, किस प्रकार मनाते हैं? एवं इन्हें मनाते हुए क्या भावना करनी चाहिए? इसकी चर्चा की है। इसके बाद पाँचों कल्याणकों की उपादेयता एवं महोत्सव में विभिन्न पात्रों द्वारा क्या भाव किए जाने चाहिए इसका निरूपण किया गया है। जिससे पंचकल्याणक महोत्सव जन कल्याण में हेतुभूत बन सकें।

ग्यारहवें अध्याय में प्रतिष्ठा उपयोगी विधियों का प्रचलित स्वरूप बताया गया है। विधि की महत्ता को सर्वत्र सर्वोपरि स्वीकारा गया है। विधि का आलम्बन लिए बिना कोई भी कार्य सम्यक रूप से पूर्ण नहीं हो सकता, एक छोटा सा सामान्य कार्य हो तो उसे भी सविधि करना पड़ता है। उसकी विधि में कहीं भी हेर-फेर या बदलाव उसे कुछ से कुछ बना सकता है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर जैनाचार्यों ने प्रत्येक कार्य का विधिवत निरूपण किया है। फिर चाहे वह नित्य आराधना सम्बन्धी प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ हो या फिर विशेष रूप में आयोजित पूजा, प्रतिष्ठा, उपधान आदि विधान हो। सभी की विधियों का निरूपण किया गया है। प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में अथ से इति तक अनेकशः विधियाँ प्राप्त होती है।

इस अध्याय में प्रतिष्ठा को विधियुक्त अनुष्ठान सिद्ध करते हुए तत्सम्बन्धी शास्त्रीय विधियाँ बताई गई है। इसमें खात मुहूर्त्त, कूर्म प्रतिष्ठा, शिलान्यास, कुंभ स्थापना, जवारारोपण, अठारह अभिषेक, गृह मन्दिर निर्माण, वज्रलेप, मूर्ति विसर्जन, ध्वजा प्रतिष्ठा आदि 44 विधियों का निरूपण किया है जिससे उन विधियों के सम्यक स्वरूप का बोध हो सकें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन मन्दिर सम्बन्धी विशिष्ट विधानों में अठारह अभिषेक एक महत्त्वपूर्ण विधान है। जिन प्रतिमा आदि को प्रासुक जल से सिंचित करना अभिषेक कहलाता है। अठारह अभिषेक का तात्पर्य भिन्न-भिन्न औषधि युक्त जल से जिनबिम्ब आदि का अठारह बार प्रक्षालन करना है। जैन मन्दिरों में जिनबिम्ब का अभिषेक परमात्मा के जन्माभिषेक के अनुकरण रूप किया जाता है। इन्द्र की भाँति विविध जलों द्वारा अभिषेक करना मनुष्य के लिए संभव नहीं है अत: वह अठारह प्रकार का जल ही प्रयुक्त करता है।

अठारह अभिषेक करने के अनेक हेतु हैं जैसे– परमात्मा के जन्माभिषेक का अनुकरण, अशुद्धियों का निवारण, जिनालय, जिनबिम्ब एवं वातावरण की शुद्धि, मन्दिर सम्बन्धी आशातनाओं का शुद्धिकरण आदि। इन सभी की चर्चा बारहवें अध्याय में की गई है। इसी के साथ प्रस्तुत अध्याय में अठारह अभिषेक का आधुनिक एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हुए अठारह अभिषेक क्यों? अभिषेक के प्रकार, अठारह अभिषेक की परम्परा कब से, अभिषेक क्रिया सावद्य है या नहीं? अभिषेक क्रिया में प्रयुक्त औषधियों का प्रभाव प्रतिमा एवं अभिषेक कर्त्ता पर किस प्रकार पड़ता है? उनके द्वारा शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों का शमन किस प्रकार हो सकता है? आदि को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। सुज्ञ स्वाध्यायी वर्ग इससे तत्सम्बन्धी अनेक छोटे-बड़े रहस्यों का ज्ञान कर पाएंगे।

इस खण्ड के **तेरहवें अध्याय** में प्रतिष्ठा सम्बन्धी मुख्य विधियों का बहुपक्षीय अध्ययन किया गया है।

प्रतिष्ठा महोत्सव के दौरान अनेक प्रकार के विधि विधान सम्पन्न किये जाते हैं। प्रत्येक विधान का अपना स्वतंत्र महत्त्व है तथा स्वतंत्र रूप से प्रभाव भी संघ समुदाय पर पड़ता है। परंतु आज के समय में लोगों को न इस विषयक जानकारी है और न ही समय कि वह इन विधानों का सम्यक स्वरूप समझ सकें। कई बार जिज्ञासु वर्ग द्वारा तद्विषयक प्रश्न तो किए जाते हैं किन्तु सम्यक समाधान प्राप्त नहीं हो पाता। प्रस्तुत अध्याय में प्रतिष्ठा सम्बन्धी विधियों का अनेक दृष्टियों से अनुशीलन किया गया है। मुख्य रूप से वर्तमान आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए प्रतिष्ठा सम्बन्धी प्रत्येक विधान जैसे खनन, शिलान्यास,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुंभ स्थापना, अधिवासना आदि पर विस्तृत जानकारी पाठक वर्ग की अपेक्षा से दी गई है।

चौदहवाँ अध्याय प्रतिष्ठा विधानों के अभिप्राय एवं रहस्यों से सम्बन्धित है। इस अध्याय में प्रतिष्ठा विधान सम्बन्धी विविध प्रासंगिक शंकाओं का समाधान किया है।

प्रतिष्ठा एक विधि-विधान परक अनुष्ठान है। पूर्व अध्यायों में प्रतिष्ठा सम्बन्धी अनेकशः विधानों की चर्चा की गई है। उन विधि-विधानों में छुपे रहस्यों, गूढ़ार्थों एवं उनके हेतुओं को जानना अत्यावश्यक है। ताकि उन क्रियाओं के साथ हमारा सम्बन्ध अन्तर्मन से जुड़ सके। कई बार उन विधानों का मूल हेतु न जानने के कारण अनेक विभ्रान्त मान्यताएँ भी जन मानस में स्थापित हो जाती है।जैसे कि जैन धर्म निवृत्ति प्रधान है। यहाँ मात्र वीतराग परमात्मा की आराधना करने का निर्देश है तब फिर प्रतिष्ठा आदि विधानों में देवी-देवताओं को आमंत्रण, उनका पूजन, द्रव्य अर्पण, बलिप्रक्षेपण आदि क्यों? इस विषय में लोग अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं। ऐसी ही अनेक शंकाएँ हैं। चर्चित अध्याय में इन विधानों के मार्मिक रहस्यों को शास्त्रीय निर्देश एवं प्रमाणों के आधार पर उजागर करने का प्रयास किया है।

इस अध्याय में प्रतिष्ठा विधान विषयक रहस्यों को उजागर करते हुए जिनबिम्ब की पौंखण क्रिया क्यों? जिन प्रतिमा के हाथ में सरसव पोटली क्यों बांधते हैं? मींढल एवं मरडाशिंगी बांधने का प्रयोजन क्या है? प्रतिष्ठाचार्य द्वारा स्वर्ण कंकण पहनकर सकलीकरण क्यों? आदि अनेक प्रश्नों का समाधान किया गया है। इसके द्वारा ज्ञान पिपासु वर्ग क्रियाओं का मात्र अनुकरण न करते हुए उन्हें समझपूर्वक आचरित कर पाएंगे।

पन्द्रहवें अध्याय में वर्तमान उपलब्ध प्रतिष्ठा कल्पों का समीक्षात्मक एवं ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है। इसके माध्यम से प्रतिष्ठा विधि की प्राचीनता एवं उसमें आए कालगत परिवर्तनों का ज्ञान होता है। यदि अब तक उपलब्ध प्रतिष्ठा कल्पों का अध्ययन करें तो अनेक विचारणीय तथ्य परिलक्षित होते हैं। हर आचार्य ने अपने पूर्ववर्ती प्रतिष्ठाकल्प को अपना मुख्य आधार बनाया किन्तु इसके साथ उस समय की लौकिक प्रवृत्तियों एवं अन्य परम्पराओं में प्रचलित विधानों का भी इनमें समावेश किया। कभी उस समय की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवश्यकता के कारण तो कभी उन आचार्यों पर रहे अन्य परम्पराओं के संस्कारगत प्रभाव के कारण। शनैः शनैः आए इन परिवर्तनों का संकलन अद्य प्रचलित प्रतिष्ठा विधानों में परिलक्षित होता है। आज इनमें कई विधान प्राचीन प्रतिष्ठा कल्पों के अंश है तो कई प्रतिष्ठा ग्रन्थों के। कुछ विधान ऐसे हैं जो वर्तमान में औचित्यपूर्ण नहीं है तो कुछ में परिवर्तन की आवश्यकता है। ऐसे ही कई तथ्यों पर वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विचार किया है।

इस अध्याय में प्राचीन और अर्वाचीन प्रतिष्ठा ग्रन्थों एवं विधियों का ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन किया है। इसी के साथ प्रतिष्ठा विधानों में आए क्रान्तिकारी परिवर्तनों के हेतु, प्रतिमाओं में कला प्रवेश आदि अनेक विषयों की चर्चा की है।

सोलहवें अध्याय में सम्यक्त्वी देवी-देवताओं का शास्त्रीय स्वरूप दर्शाते हुए उस विषयक जैन धर्म की अवधारणा को स्पष्ट किया है। इस अध्याय में गृहस्थ के लिए सम्यक्त्वी देवी-देवताओं का स्थान कितना ऊँचा है और उनका सत्कार-बहुमान कितने स्तर तक किया जाना चाहिए? इस सम्बन्ध में सयुक्ति पूर्ण निरूपण किया है।

प्रस्तुत अध्याय में देवी देवताओं के शास्त्रीय स्वरूप की चर्चा करने का मुख्य कारण है 24 तीर्थंकरों के शासन देवी-देवता, 16 विद्यादेवी, 10 दिक्पाल, नवग्रह देवता, क्षेत्रपाल देव आदि सम्यक्त्वी देवताओं का सम्यक परिचय देना। जैन धर्म वीतराग उपासक माना जाता है अतः इन देवी-देवताओं की उपासना साधर्मिक के रूप में ही होनी चाहिए। परंतु वर्तमान में उनकी बढ़ती प्रमुखता एक विचारणीय प्रश्न है। आज इन देवी-देवताओं की पूजा उनके चमत्कारों की वजह से एवं सांसारिक भोग कामनाओं की पूर्ति के लिए की जाती है। परमात्मा से अधिक प्रमुखता भोमियाजी, पद्मावती, भैंरूजी आदि की उपासना को दी जाती है। इस विषय में जैनाचार्यों एवं श्रावकों को अवश्य सचेष्ट होना चाहिए।

इस खण्ड का **अंतिम अध्याय** उपसंहार रूप है। इस अध्याय में प्रतिष्ठा विधान में आए परिवर्तन एवं उनका वर्तमान प्रचलित स्वरूप तथा उनके परिणाम बताए हैं। इसी के साथ प्रतिष्ठा सम्बन्धी अनेक सारभूत तथ्यों की चर्चा की है। प्रतिष्ठा विधान एक अध्यात्मपरक आत्म जागृति का विधान है परंतु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज यह एक आडम्बर युक्त बृहद् अनुष्ठान बनकर रह गया है। आचार्यों के स्थान पर विधिकारकों का वर्चस्व बढ़ गया है।

अनुष्ठानों में आत्म जागृति के स्थान पर बाह्य दिखावट, साज-सज्जा एवं पैसे की आवक पर ही विशेष बल दिया जाता है। देवी-देवताओं के प्रति बढ़ता रूझान भी एक विचारणीय तथ्य है। ऐसे ही कई पक्षों पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास इस अध्याय के माध्यम से किया है।

जैन मूर्तिपूजक समाज में प्रतिष्ठा को एक महत्त्वपूर्ण विधान माना गया है। इसी विधान के माध्यम से नगर में परमात्मा की एवं जनमानस के हृदय में धर्म की प्रतिष्ठा होती है। चिहुँ ओर अध्यात्म की महक प्रसरित होने लगती है। प्रस्तुत खंड में प्रतिष्ठा विषयक विभिन्न पक्षों की चर्चा करने का मुख्य उद्देश्य इस महत अनुष्ठान के सम्यक स्वरूप से परिचित करवाना है।

प्रतिष्ठा एक रहस्यपरक अनुष्ठान है। इसमें किए जाने वाले अनेकश: विधानों के पीछे अनेक रहस्य छिपे हुए हैं। उन रहस्यों को न जानने एवं समझने के कारण अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ एवं धारणाएँ जऩ मानस में स्थापित हो जाती है। यह कृति उन शंकाओं का निवारण करते हुए अनावश्यक विधानों को समाप्त करने में सहायक बनेगी। साथ ही समुचित विधानों को सही रूप में करने हेतु मार्गदर्शन प्रदान करेगी।

प्रतिष्ठा एक विधि-विधान बहुल अनुष्ठान है, जिसको करवाने का मुख्य अधिकार आचार्यों को ही है। अत: इसके अन्तर्भूत रहस्यों एवं परम्पराओं को समझने के लिए आचार्यों का सतत अनुभव एवं दिशा निर्देश आवश्यक है। एतदर्थ कई विषयों के सम्बन्ध में अब भी प्रश्नचिह्न बना हुआ है। आशा है ज्ञान पिपासु मुनिवर्ग इस पर अन्वेषण करते हुए उसके विभिन्न रहस्यों को उजागर करेंगे यही अभिलाषा है।

समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि यह तृतीय भाग जैन परम्परा के कुछ महत्त्वपूर्ण अनुष्ठानों का सम्यक स्वरूप प्रस्तुत करता है। यह अनुष्ठान श्रमण एवं श्रावक दोनों के ही जीवन में अभूतपूर्व महत्ता रखते हैं। इस भाग में वर्णित खण्डों का उद्देश्य उन विधानों की प्रासंगिकता एवं सर्वाङ्गीणता से समस्त श्रद्धालु जनों को परिचित करवाना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाग-4

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषयक इस शोध प्रबन्ध का चतुर्थ एवं अन्तिम भाग मुद्रा विज्ञान पर आधारित है।

विश्व की प्रसिद्ध प्राचीनतम सभ्यताओं में भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान है। यह संस्कृति धर्म एवं अध्यात्म प्रधान, ऋषि एवं महर्षि प्रधान, साधना एवं उपासना प्रधान रही है। यही कारण है कि भारत अध्यात्म प्रधान देश कहलाता है। इस महिमा मण्डन का सम्पूर्ण श्रेय जाता है भारतीय ऋषि महर्षियों को। उन्हीं की कठोरतम साधना के परिणामस्वरूप आज हमारा देश आचार-विचार, तप-त्याग, अहिंसा और संयम जैसे मौलिक सिद्धान्तों के लिए जाना जाता है। इसी कारण आध्यात्मिक प्रगति के लिए भारत को आज आदर्श एवं प्रेरणा का स्रोत माना जाता है।

पूर्वज साधकों ने समूची मानव जाति के नि:श्रेयार्थ नयी-नयी विद्याओं की खोज कर उन्हें आत्मसात किया। मुद्रा योग अध्यात्म साधकों की एक ऐसी ही महत्त्वपूर्ण खोज है।

'मुद् मोदने' धातु से निष्पन्न मुद्रा एक संस्कृत शब्द है। यह प्रसन्नता, आनंद, उल्लास, हर्ष आदि का सूचक है। मुद्रा शब्द की अनेक परिभाषाएँ प्राप्त होती है जिनका निष्कर्ष यही है कि आत्मिक गुणों को अनावृत्त करते हुए जो प्रवृत्तियाँ चैतसिक प्रसन्नता और अपूर्व आह्लाद देती है, वह मुद्रा है।

संस्कृत कोश के अनुसार मोहर, छाप, पैसा (करन्सी) को मुद्रा कहा जाता है। अर्थशास्त्र के अनुसार कागज के नोट को भी मुद्रा माना जाता है। राजा या अधिकारी की सील भी मुद्रा नाम से पहचानी जाती है तो पूर्वकाल में अंगूठी को भी मुद्रा कहा जाता था। मुद्रा का एक अर्थ एक्शन भी है। हमारे शरीर में जितनी भी आकृतियाँ बनती है वह सभी मुद्रा ही है। नृत्यशास्त्रों में अंगों के संचालन को मुद्रा कहा जाता है।

यह ध्यातव्य है कि अंग संकेत मानव की आदि भाषा है। देशकाल के अनुसार भाषा तो बदलती रहती है परन्तु शारीरिक प्रतिक्रियाएँ समान प्रभाव ही डालती है। किसी को मुँह बनाकर चिढ़ाने की मुद्रा अथवा क्रोध की उग्र मुद्रा संसार के किसी भी क्षेत्र में किसी भी व्यक्ति को समान रूप से ही प्रभावित करती है। दूरस्थ व्यक्ति को हाथ से बुलाने का संकेत, भूख प्रकट करने के लिए ग्रास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुद्रा और प्यास के लिए मुख के पास अर्धांजलि मुद्रा बनाने से दो विभिन्न भाषा-भाषी अपने मनोभावों को बोधगम्य बना सकते हैं। जहाँ पर भाषा का संप्रेषण असंभव हो वहाँ मुद्रा संकेत बहुउपयोगी हो सकता है। शरीर के हाव-भाव मनोव्यंजना को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर सकते हैं।

भारतीय परम्परा में प्रत्येक शब्द एवं क्रिया को अध्यात्म के साथ जोड़ा जाता है। मुद्रा योग विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। अध्यात्म साधना हेतु एक आवश्यक चरण एवं शास्त्रीय विद्याओं में विशिष्टतम विद्या है। मानव के सर्वांगीण विकास के लिए मुद्रा योग संजीवनी औषधि है। योग साधक भारतीय ऋषि-महर्षियों ने मन, बुद्धि एवं शरीर को शांत रखने के लिए विभिन्न मुद्राओं का प्रयोग किया। उन प्रयोगों के आधार पर जो परिणाम उन्हें अनुभूत हुए उसी के मक्खन रूप में हमें विभिन्न परम्पराओं में विविध मुद्राओं का इतिहास प्राप्त होता है।

भारतीय योग साहित्य प्रकृति के मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित है। इसी कारण हमारी संस्कृति प्रकृति के समान ही अनादि और अनंत है। योग साधकों ने प्रकृति से भी ऊपर उठकर आध्यात्मिक तत्त्वों का अन्वेषण किया। सम्पूर्ण शरीर एवं शरीरगत आंतरिक तंत्रों का सूक्ष्म अन्वेषण कर मानव शरीर के रहस्यमयी तथ्यों को प्रकट किया।

प्रत्येक मानव की आन्तरिक शक्तियाँ असीम है एवं कल्पना के विस्तृत क्षेत्र से भी परे हैं। भौतिक सुख-सुविधाओं में आनंद मग्न व्यक्ति उन शक्तियों को न पहचान सकता है और न ही उनका सार्थक उपयोग कर पाता है। इस तथ्य को विज्ञान भी स्वीकृत करता है कि मानव अपने मस्तिष्क का 3 से 4% ही उपयोग कर पाता है। ऐसा ही अन्य शारीरिक शक्तियों के बारे में भी जानना चाहिए। सामान्यतया अज्ञानजनित बुद्धि एवं मोह आदि के वशीभूत हुआ व्यक्ति बाह्य उपलब्धियों को ही वास्तविक मानता है। उन्हीं में रच-पचकर पूर्णता को अनुभूत करता है। इन विकट परिस्थितियों में मुद्रा एक ऐसी पद्धति है जिसके माध्यम से जड़-चेतन का भेद ज्ञान करते हुए यथार्थता के निकट पहुँचा जा सकता है। पौद्गलिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का मूल्यांकन करते हुए अन्तरंग शक्तियों को जागृत करने हेतु प्रयत्न किया जा सकता हैं। इस उच्च दशा को पाने के लिए चित्त का एकाग्र होना आवश्यक है। एकाग्रता के द्वारा ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहिरंग जगत से जुड़ी हुई चेतना को अन्तरंग क्षेत्र की ओर मोड़ सकते हैं।

मुद्रा योग शरीर एवं चित्त स्थिरीकरण के लिए ब्रह्मास्त्र है। जैसे ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कभी निष्फल नहीं जाता वैसे ही विधियुक्त किया गया मुद्रा प्रयोग हमेशा सुपरिणामी ही होता है। घेरण्ड संहिता के अनुसार स्थिरता प्राप्ति के लिए मुद्रा योग की साधना करनी चाहिए। जब तक स्थिरता न सधे तब तक आंतरिक शक्तियों से संबंध की स्थापना नहीं हो सकती। आंतरिक शक्तियों को अनुभूत एवं जागृत किए बिना जीव सम्पूर्ण सिद्धि के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकता। मुद्राएँ तत्त्व परिवर्तन की अपूर्व क्रिया है। हमारा शरीर पाँच तत्त्वों से निर्मित है। इन तत्त्वों की विकृति के कारण ही प्रकृति में असंतुलन और शरीर में रोग पैदा होते हैं। हस्तमुद्राएँ पंच तत्त्व को संतुलित करने का सशक्त माध्यम है। शरीरस्थ पाँच अंगुलियाँ पंच तत्त्व की प्रतिनिधि हैं। इन अंगुलियों की मदद से इन्हें घटा-बढ़ा सकते हैं। शरीर विज्ञान के अनुसार अंगूठे के अग्रभाग को किसी भी अंगुली के अग्रभाग से जोड़ा जाए तो उससे सम्बन्धित तत्त्व स्थिर होता है। वहीं अंगूठे के अग्रभाग को किसी भी अंगूली के निचले हिस्से अर्थात मूल पर्व पर लगाने से उस अंगुली से सम्बन्धित तत्त्व की शरीर में वृद्धि होती है। अंगुली को मोड़कर अंगूठे की जड़ में अर्थात उसके आधार पर रखने से उस अंगुली से सम्बन्धित तत्त्व का शरीर से ह्रास होता है। इस प्रकार विभिन्न मुद्राओं के माध्यम से शरीरस्थ पंच तत्त्वों को संतुलित किया जा सकता है।

मुद्रा योग की आवश्यकता क्यों? Need is the mother of invention. आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। आज के अणु प्रधान व्यस्त युग में लोगों के पास दीर्घकालीन साधनाओं के लिए समय नहीं है। हर क्रिया की लोग त्वरित प्रक्रिया Fast Reaction चाहते हैं। इसी कारण जन सामान्य में आध्यात्मिक योग साधना के प्रति रूचि भाव प्रायः नहींवत देखा जाता है। शारीरिक स्वास्थ्य हो या मानसिक शांति सभी के लिए व्यक्ति ऐसे उपचारों को चाहता है जो उसे तत्काल एवं सरल रूप में लाभ दे सके।

इस परिप्रेक्ष्य में मुद्रा योग एक रामबाण औषधि है। भारतीय ऋषियों की यह खोज अत्यधिक प्रभावशाली, वैज्ञानिक, प्रयोग में सरल, अत्यन्त रहस्यमय तथा गहन तथ्यों को अभिव्यक्त करती है। मुद्रा विज्ञान आधुनिक विज्ञान की अणुधारा से भी अधिक सूक्ष्म, गहन, सारगर्भित एवं विस्तृत है। इस विज्ञान के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा मानव शरीर में ऐसे विचित्र परिवर्त्तन लाए जा सकते हैं जो आज के विज्ञान के लिए सर्वथा असम्भव है।

आधुनिक विज्ञान सुविधा एवं उन्नति के साथ घबराहट और अशान्ति को भी बढ़ाता है। मुद्रा विज्ञान के द्वारा धर्म के सत्य और वैज्ञानिक सिद्धान्तों का लोगों को समुचित ज्ञान हो सकता है। सामान्य जनता के सर्वतोमुखी विकास में इससे बहुत अधिक सहायता मिल सकती है।

विविध दृष्टियों से मुद्रा योग की महत्ता– आंतरिक जगत बहुत ही सूक्ष्म, अदृश्य एवं अगोचर है। मुद्रा योग के बल पर नि:सन्देह उस अन्तर जगत को पहचाना जा सकता है। प्राय: आर्य संस्कृति की प्रत्येक परम्परा यह स्वीकार करती है कि हर आत्मा में अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत शक्तियाँ विद्यमान है किन्तु कर्म आवरण के कारण ये शक्तियाँ न्यूनाधिक रूप में सुषुप्त रहती हैं। इन शक्तियों का साक्षात्कार कुछ विशिष्ट साधनाओं के द्वारा हो सकता है। मुद्रायोग एक ऐसी ही साधना है। धार्मिक क्षेत्र के प्रत्येक आवश्यक कर्म, आत्म उपासना, धार्मिक अनुष्ठान, मंत्र साधना आदि शुभ क्रियाएँ मुद्रा योग पूर्वक ही सम्पन्न की जाती है। शरीररस्थ चक्र आदि के जागरण में भी मुद्रा योग विशेष लाभकारी है।

मानसिक मूल्य– मुद्रा सूक्ष्म मानसिक वृत्ति है। अन्तर्मन को मापने का यह थर्मामीटर है। स्थूल विचारों को टटोलने का दिशा यंत्र है। मुद्रा और मन के बीच तादात्म्य सम्बन्ध है। श्रेष्ठ मुद्राएँ मन को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। पद्मासन में बैठा हुआ व्यक्ति चाहे जितना यत्न करें किसी की हत्या नहीं कर सकता क्योंकि पद्मासन एक प्रशस्त मुद्रा है और वह अप्रशस्त भावों को टिकने नहीं देती। इसी प्रकार हमारे भीतर जैसे भाव उभरते है हमारी बाह्य आकृति वैसी ही बन जाती है और बाह्य आकृति के अनुसार हमारे आन्तरिक भाव बनते हैं। एक व्यक्ति की आकृति दूसरे व्यक्ति के भावों को परिवर्तित कर देती है। माता-पिता द्वारा आशीर्वाद देना, स्नेही जनों का परस्पर गले मिलना सहज ही मन में स्नेह भावों का जागरण करता है। डिप्रेशन, मानसिक असंतुलन आदि के उपशमन में मुद्रा प्रयोग को बहुत उपयोगी माना है।

शारीरिक मूल्य– मुद्रा मानव शरीर रूपी महायन्त्र की नियन्त्रक तालिका अर्थात Switch board है। इनके माध्यम से मानव में मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक परिवर्त्तन किए जा सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुद्रा प्रयोग के द्वारा शरीर में अतिशीघ्र तात्त्विक प्रत्यावर्त्तन, विघटन परिवर्तन संभव होने लगते हैं। कई मुद्राओं के नियमित प्रयोग से सम्पूर्ण स्नायु मंडल में आमूल चूल परिवर्तन होने लगते हैं। अनेक दिव्य शक्तियों एवं ज्ञान (sixth sense) का जागरण होता है। मुद्रा प्रयोग से शरीर मल रहित होकर परम सात्त्विक स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकता है। शरीरस्थ अन्त:स्रावी ग्रन्थियों के संतुलन, तत्त्वों के समीकरण, एक्युप्रेशर आदि चिकित्सा में मुद्राओं का उपयोग सुसिद्ध हो चुका है।

हमारे शरीर रूपी भवन में सभी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध है। इसमें कूलर, हीटर, एयरकंडिशन, रेडियो, कैमरा, कम्प्यूटर आदि सर्व शक्तियाँ व्याप्त है। भारतीय योगियों ने संपूर्ण शरीर का अन्वेषण कर कितने ही सूक्ष्म रहस्यों को प्रकट किया है।

मुद्राओं के सही एवं संतुलित उपयोग से व्यक्ति अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों और वातावरण में भी अपना संतुलित जीवन यापन करता हुआ स्वस्थ एवं दीर्घायु जीवन जीते हुए सुख, शान्ति एवं समृद्धि प्राप्त कर सकता है।

यौगिक साधनाएँ एवं मुद्रा प्रयोग– मुद्रा प्रयोग एक बहुत बड़ी यौगिक साधना है। यदि सूक्ष्मता पूर्वक विचार करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि मुद्रा साधना यौगिक साधनाओं की आधार भूमि है। किस भी प्रकार की यौगिक साधना हो उसमें मुद्रा प्रयोग अवश्य रूप से होता है। अत: यह सुसिद्ध है कि मुद्रा साधना के बिना कोई भी यौगिक साधना असंभव एवं अपूर्ण हैं।

ध्यान जिसे अध्यात्म साधना का प्रकृष्ट प्रयोग माना जाता है। यदि गहराई से निरीक्षण करें तो स्पष्ट होता है कि ध्यान की किसी भी अवस्था में मुद्रा अवश्यंभावी है। ध्यान किसी न किसी आसन विशेष में किया जाता है। आसन एक निश्चित आकार में ढला होता है। अत: उसमें मुद्रा सुनिश्चित है।

आसन एवं मुद्रा दोनों ही यौगिक साधना के प्रमुख अंग है। दोनों में स्वरूप की अपेक्षा अन्तर दिखाई देता है। परन्तु यथार्थत: आसन मुद्राओं की उच्च भूमिका है। हठयोग एक कठिन यौगिक साधना है। इस साधना में सात मुख्य अंगों की कल्पना की गई है। उनमें से मुद्रा का तीसरा स्थान है।

मुद्रा योग के लाभ– मानव देह प्रकृति द्वारा निर्मित एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आश्चर्यजनक और रहस्यपूर्ण महायन्त्र है। मुद्रा साधना इस मशीन को नियंत्रित करने वाले स्विच के समान है। इसके द्वारा मनुष्य की प्रत्येक प्रकृति को नियंत्रित किया जा सकता है। मुद्रा विज्ञान की एक और विशेषता है कि इसके लिए किसी भी प्रकार के पूर्व प्रबन्ध की आवश्यकता नहीं होती। स्वेच्छा से किसी भी स्थिति में किसी भी समय इसका प्रयोग किया जा सकता है।

मुद्रा विज्ञान के निम्न तथ्य भी ज्ञातव्य हैं–

- मुद्रा के द्वारा मानव देह में तीव्रता से प्रत्यावर्तन, विघटन एवं परिवर्तन हो सकता है।
- कुछ मुद्राएँ तत्परता से तो कुछ अभ्यास करने पर लाभ दिखाती है। मुद्राओं का निरन्तर अभ्यास स्थायी लाभ प्रदान कर सकता है।
- मुद्राएँ मानव की सूक्ष्म आंतरिक शक्तियों को जगाने का अभूतपूर्व सामर्थ्य रखती है। इसके द्वारा सुप्त ज्ञान ग्रन्थियों एवं सुप्त स्नायु गुच्छों (Glands) को जागृत किया जा सकता है।
- धर्म और विज्ञान के संयुक्त आचरण से मानव का सर्वतोमुखी विकास हो सकता है।
- लौकिक एवं लोकोत्तर सिद्धियों को प्राप्त करने में मुद्रा योग मुख्य सोपान है।
- मुद्राएँ शरीर की नियन्त्रक होती हैं अत: विभिन्न तत्त्व एवं अवयव योग साधना द्वारा नियन्त्रित रहते हैं।
- चक्र आदि के जागरण में भी मुद्रा योग का अभिन्न स्थान है। इस प्रकार मुद्रा योग एक समग्र साधना है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि अधिकांश मुद्राएँ हाथों से ही क्यों की जाती है? यदि गहराई से अवलोकन किया जाए तो परिज्ञात होता है कि शरीर के सक्रिय अंगों में हाथ प्रमुख है। हथेली में एक विशेष प्रकार की प्राण ऊर्जा अथवा शक्ति का प्रवाह निरन्तर होता रहता है। इसी कारण शरीर के किसी भी भाग में दु:ख, दर्द, पीड़ा होने पर सहज की हाथ वहाँ चला जाता है। अंगुलियों में अपेक्षाकृत संवेदनशीलता अधिक होती है इसी कारण अंगुलियों से ही नाड़ी को देखा जाता है। जिससे मस्तिष्क में नब्ज की कार्यविधि का संदेश शीघ्र पहुँच जाता है। रेकी चिकित्सा में हथेली का ही उपयोग होता है। रत्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिकित्सा में विभिन्न प्रकार के नगीने अंगूठी के माध्यम से हाथ की अंगुलियों में ही पहने जाते हैं जिनकी तरंगों के प्रभाव से शरीर को स्वस्थ रखा जा सकता है।

एक्यूप्रेशर चिकित्सा के अनुसार हथेली में सारे शरीर के संवदेन बिन्दु होते हैं। सुजोक बेओल मेरेडियन के सिद्धान्तानुसार अंगुलियों से ही शरीर के विभिन्न अंगों में प्राण ऊर्जा के प्रवाह को नियन्त्रित और संतुलित किया जा सकता है। हस्त रेखा विशेषज्ञ हथेली देखकर व्यक्ति के वर्तमान, भूत और भविष्य की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को बतला सकते हैं। कहने का आशय यही है कि हाथ, हथेली और अंगुलियों का मनुष्य की जीवन शैली से सीधा सम्बन्ध होता है। ये मुद्राएँ शरीरस्थ चेतना के शक्ति केन्द्रों में रिमोट कन्ट्रोल के समान कार्य करती हैं फलतः स्वास्थ्य रक्षा और रोग निवारण होता है।

मुद्राएँ किसी एक धर्म सम्प्रदाय अथवा आर्य संस्कृति से ही सम्बन्धित नहीं है। ईसाई धर्म में भी हस्त मुद्राएँ देवता और संतों के अभिप्राय एवं भाव अभिव्यक्ति की माध्यम रही हैं। ईसा मसीह की प्रतिमाओं में ऊपर किए गए दाएँ हाथ की मध्यमा एवं तर्जनी ऊर्ध्व की ओर, अनामिका एवं कनिष्ठका हथेली में मुड़ी हुई तथा अंगूठा उन दोनों को आवेष्टित करते हुए जो मुद्रा दर्शायी जाती है वह कृपा, क्षमा एवं देवी आशीष की सूचक है। इसी प्रकार मरियम की मूर्ति में जो मुद्रा दिखाई देती है वह मातृत्व एवं ममत्व भाव की सूचक है। यह भगवान की इच्छाओं के स्वीकार की भी द्योतक है।

हिन्दु और बौद्ध धर्म में प्रयुक्त कई मुद्राएँ विशिष्ट देवी-देवताओं आदि की सूचक है। मुख्यतया तांत्रिक मुद्राएँ विशेष प्रसंगों में पादरी और लामाओं द्वारा धारण की जाती है। इस प्रकार मुद्रा विज्ञान समस्त धर्म परम्पराओं में आचरित एवं सम्मत है।

मुद्रा योग से सम्बन्धित यह शोध कार्य सात खण्डों में किया गया है। उन खण्डों के नाम इस प्रकार हैं–

खण्ड-15 : मुद्रा योग एक अनुसंधान मौलिक संदर्भों में।

खण्ड-16 : नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन।

खण्ड-17 : जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा।

खण्ड-18 : हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खण्ड-19 : बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन।
खण्ड-20 : यौगिक मुद्राएँ– मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग।
खण्ड-21 : आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?

प्रथम खण्ड में मुद्रा का स्वरूप विश्लेषण करते हुए तत्संबंधी कई मूल्यवान तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें मुद्रा योग का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक पक्ष भी प्रस्तुत किया है जिससे शोधार्थी एवं आत्मार्थी आवश्यक जानकारी एक साथ प्राप्त कर सकते हैं। इस खण्ड का अध्ययन करने से परवर्ती खण्डों की विषय वस्तु भी स्पष्ट हो जाती है। अत: मुद्रा अध्ययन में मुख्य आधारभूत होने से इस खण्ड को प्रथम क्रम पर रखा गया है।

तदनन्तर सर्व प्रकार की मुद्राओं का उद्‌भव नृत्य एवं नाट्‌य कला से माना जाता है। विश्व की भौगोलिक गतिविधियों के अनुसार आज से लगभग **बयालीस हजार तीन वर्ष साढ़े आठ मास न्यून एक कोटाकोटि सागरोपम पूर्व** भगवान ऋषभदेव हुए, जिन्हें वैदिक परम्परा में भी युग के आदि कर्त्ता माना गया है। जैन आगमकार कहते हैं कि उस समय मनुष्यों का जीवन निर्वाह कल्पवृक्ष से होता था। धीर-धीरे काल का सुप्रभाव निस्तेज होने लगा, जिससे भोजन आदि की कई समस्याएँ उपस्थित हुई। तब ऋषभदेव ने पिता प्रदत्त राज्य पद का संचालन करते हुए लोगों को भोजन पकाने, अन्न उत्पादन करने, वस्त्र बुनने आदि का ज्ञान दिया। पारिवारिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन आमोद-प्रमोद एवं नीति नियम पूर्वक जीया जा सके, एतदर्थ उन्होंने पुरुषों को 72 एवं स्त्रियों को 64 प्रकार की विशिष्ट कलाएँ सिखाई। उनमें नृत्य-नाट्‌य और मुद्रा कला का भी प्रशिक्षण दिया। इससे सिद्ध होता है कि मुद्रा विज्ञान की परम्परा आदिकालीन एवं प्राचीनतम है। इसलिए नाट्‌य मुद्राओं को द्वितीय क्रम पर स्थान दिया गया है।

प्रश्न हो सकता है कि नाट्‌य मुद्राओं पर किया गया यह कार्य कितना उपयोगी एवं प्रासंगिक है? इस सम्बन्ध में इतना स्पष्ट है कि जीवन में स्वाभाविक मुद्राओं का अद्‌भुत प्रभाव पड़ता है।

1. नृत्य में प्राय: सभी मुद्राएँ सहज होती है।

2. जो लोग नृत्य-नाट्‌य आदि में रूचि रखते हैं वे इस कला के मर्म को समझ सकेंगे तथा इसकी उपयोगिता के बारे में अन्यों को ज्ञापित कर इस कला का गौरव बढ़ा सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3. जो नृत्य आदि कला सीखने में उत्साही एवं उद्यमशील हैं वे मुद्राओं से होते फायदों के बारे में यदि जाने तो इस कला के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो एक स्वस्थ जीवन की उपलब्धि करते हुए दर्शकों के चित्त को पूरी तरह आनन्दित कर सकते हैं। साथ ही दर्शकों का शरीर एवं मन प्रभावित होने से वे भी निरोग तथा चिन्तामुक्त जीवन से परिवार और समाज विकास में ठोस कार्य कर सकते हैं।

4. नृत्य कला में प्रयुक्त मुद्राओं से होने वाले सुप्रभावों की प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध हो तो इसके प्रति उपेक्षित जनता भी अनायास जुड़ सकती है तथा हाथ-पैरों के सहज संचालन से कई अनूठी उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकती हैं।

5. यदि नाट्याभिनय में दक्षता हासिल हो जाये तो प्रतिष्ठा-दीक्षा जैसे बृहद आयोजन, गुरू भगवन्तों के नगर प्रवेश, महापूजन आदि प्रसंगों में उपस्थित जन समूह को भक्ति रस में डूबोया जा सकता है। साथ ही शुभ परिणामों की भाव धारा का वेग बढ़ जाने से पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों को क्षीणकर परम पद को भी प्राप्त किया जा सकता है।

6. कुछ लोगों में नृत्य कला का अभाव होता है ऐसे व्यक्तियों को इसका मूल्य समझ में आ जाये तो वे भक्ति माहौल में स्वयं को एकाकार कर सकते हैं। उस समय हाथ आदि अंगों का स्वाभाविक संचालन होने से षट्चक्र आदि कई शक्ति केन्द्र प्रभावित होते हैं और उससे एक आरोग्य वर्धक जीवन प्राप्त होता है तथा अंतरंग की दूषित वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं।

7. हमारे दैनिक जीवन व्यवहार में हर्ष-शोक, राग-द्वेष, आनन्द-विषाद आदि परिस्थितियों के आधार पर जो शारीरिक आकृतियाँ बनती है इन समस्त भावों को नाट्य में भी दर्शाया जाता है। इस प्रकार नाट्य मुद्राएँ समस्त देहधारियों (मानवों) की जीवनचर्या का अभिन्न अंग है।

नाट्य मुद्राओं पर शोध करने का एक ध्येय यह भी है कि किसी संत पुरुष या अलौकिक पुरुष द्वारा प्रस्थापित ज्ञान कभी निरर्थक नहीं हो सकता। इस प्रकार नाट्य मुद्राएँ अनेक दृष्टियों से मूल्यवान हैं।

तदनन्तर जैन शास्त्रों में वर्णित मुद्राओं को महत्त्व देते हुए उन्हें तीसरे खण्ड में गुम्फित किया गया है। क्योंकि जैन धर्म अनादिनिधन होने के साथ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ इस मुद्रा विज्ञान के आरम्भ कर्ता एवं युग के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान है। इन्हें जैन धर्म के आद्य संस्थापक भी माना जाता है।

मुद्रा सम्बन्धी चौथे खण्ड में हिन्दू परम्परा की मुद्राओं का आधुनिक परिशीलन किया गया है। हिन्दू धर्म में प्रचलित कई मुद्राओं का प्रभाव जैन आचार्यों पर पड़ा तथा देवपूजन आदि से संबंधित कतिपय मुद्राएँ यथावत स्वीकार भी कर ली गई ऐसा माना जाता है। वर्तमान में विवाह आदि कई संस्कार प्रायः हिन्दू पण्डितों के द्वारा ही करवाये जा रहे हैं इसलिए इसे चौथे क्रम पर रखा गया है। दूसरे, हिन्दू धर्म में सर्वाधिक क्रियाकाण्ड होता है और उनमें मुद्रा प्रयोग होता ही है।

मुद्रा सम्बन्धी पाँचवें खण्ड में बौद्ध परम्परावर्ती मुद्राओं को सम्बद्ध किया गया है। यद्यपि भगवान महावीर और भगवान बुद्ध समकालीन थे फिर भी हिन्दू धर्म जैनों के निकट माना जाता है। यही कारण है कि अनेक कर्मकाण्डों का प्रभाव जैन अनुयायियों पर पड़ा। आज भी जैन परम्परा के लोग हिन्दू मन्दिरों में बिना किसी भेद-भाव के चले जाते हैं जबकि बौद्ध धर्म के प्रति ऐसा झुकाव नहीं देखा जाता।

हिन्दू धर्म भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में फैला हुआ है जबकि बौद्ध धर्म श्रमण परम्परा का संवाहक होने पर भी कुछ प्रान्तों में ही सिमट गया है। इन्हीं पहलूओं को ध्यान में रखते हुए बौद्ध मुद्राओं को पाँचवां स्थान दिया गया है।

प्रस्तुत शोध के छठवें खण्ड में यौगिक मुद्राओं एवं सातवें खण्ड में आधुनिक चिकित्सा पद्धति में प्रचलित मुद्राओं का विवेचन किया गया है। वर्तमान में बढ़ रही समस्याओं एवं अनावश्यक तनावों से छुटकारा पाने के लिए योगाभ्यास परमावश्यक है। इसलिए यौगिक एवं प्रचलित मुद्राओं को पृथक स्थान देते हुए जन साधारण के लिए उपयोगी बनाया है। इसी के साथ ये मुद्राएँ किसी परम्परा विशेष से भी सम्बन्धित नहीं है।

इस तरह उपरोक्त सातों खण्ड में मुद्राओं का जो क्रम रखा गया है वह पाठकों के सुगम बोध के लिए है। इससे मुद्राओं की श्रेष्ठता या लघुता का निर्णय नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्वरूपतः प्रत्येक मुद्रा अपने आप में सर्वोत्तम है। किन्तु प्रयोक्ता के अनुसार जो जिसके लिए विशेष फायदा करती है वह श्रेष्ठ हो जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यह शोध कार्य केवल विधि स्वरूप तक ही सीमित नहीं है। इसमें प्रत्येक मुद्रा का शब्दार्थ, उद्देश्य, उनके सुप्रभाव, प्रतीकात्मक अर्थ, कौनसी मुद्रा किस प्रसंग में की जाये आदि महत्त्वपूर्ण तथ्यों को भी उजागर किया गया है जिससे यह शोध कार्य ज्ञान पिपासुओं के लिए संजीवनी औषधि रूप सिद्ध हो सकेगा।

प्रसंगानुसार मुद्रा चित्रों के सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि चित्रों को बनाते समय पूर्ण सावधानी रखी गयी है फिर भी उसमें त्रुटियाँ रहना संभव है। क्योंकि हाथ से मुद्रा बनाकर दिखाने एवं उसके चित्र को बनाने वाले की दृष्टि और समझ में अन्तर हो सकता है।

चित्र के माध्यम से प्रत्येक पहलू को स्पष्टतः दर्शाना संभव नहीं होता, क्योंकि परिभाषानुसार हाथ का झुकाव, मोड़ना आदि अभ्यास पूर्वक ही आ सकता है।

प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त मुद्राओं के वर्णन को समझने में और ग्रन्थ कर्त्ता के अभिप्राय में अन्तर होने से कोई मुद्रा गलत बन गई हो तो क्षमाप्रार्थी हूँ।

यहाँ निम्न बिन्दुओं पर भी ध्यान देना जरूरी है–

1. हमारे द्वारा दर्शाए गए मुद्रा चित्रों के अंतर्गत कुछ मुद्राओं में दायाँ हाथ दर्शक के देखने के हिसाब से माना गया है तथा कुछ मुद्राओं में दायाँ हाथ प्रयोक्ता के अनुसार दर्शाया गया है।
2. कुछ मुद्राएँ बाहर की तरफ दिखाने की है उनमें चित्रकार ने मुद्रा बनाते समय वह Pose अपने मुख की तरफ दिखा दिया है।
3. कुछ मुद्राओं में एक हाथ को पार्श्व में दिखाना है उसे स्पष्ट दर्शाने के लिए पार्श्व में न दिखाकर थोड़ा सामने की तरफ दिखाया है।
4. कुछ मुद्राएँ स्वरूप के अनुसार दिखाई नहीं जा सकती है अतः उनकी यथावत आकृतियाँ नहीं बन पाई है।
5. कुछ मुद्राएँ स्वरूप के अनुसार बनने के बावजूद भी चित्रों में स्पष्टता नहीं उभर पाई हैं।
6. कुछ मुद्राओं के चित्र अत्यन्त कठिन होने से नहीं बन पाए हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खण्ड-15

मुद्रा विज्ञान एक अनुसंधान मौलिक संदर्भों में

मुद्रा योग एक अभूतपूर्व साधना है। प्रत्येक क्षेत्र में इसकी महत्ता स्वीकार की गई है। अध्यात्म के क्षेत्र में मुद्रा की जितनी महत्ता है उतनी ही आवश्यकता उसकी विज्ञान और भौतिक संदर्भों में भी है।

खण्ड-15 मुद्रा विज्ञान की इसी व्यापकता को सिद्ध करता है। इस खण्ड में मुद्रा विज्ञान की प्राथमिक भूमिका के विषय में चर्चा की गई है। यहाँ मुद्रा के सामान्य स्वरूप तथा उसके विविध पक्षों को उजागर करते हुए उसके रहस्यात्मक एवं ऐतिहासिक तथ्यों को उद्घाटित किया है।

यह खण्ड आगे के छ: खण्डों (16-21) के लिए मुख्य भूमिका रूप है। इसी के साथ इसमें उन खण्डों का स्वरूप एवं उसका प्रमुख परिचय भी दिया गया है। यह खण्ड पाँच अध्यायों में विभाजित है।

प्रथम अध्याय मुद्रा का स्वरूप एवं उसकी सामाजिक अवधारणाओं को स्पष्ट करता है। इस अध्याय में विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर मुद्रा के भिन्न-भिन्न अर्थ बतलाते हुए उसकी व्यवहार एवं अध्यात्म प्रधान परिभाषाओं को स्पष्ट किया है।

इस अध्याय लेखन का मुख्य हेतु मुद्राओं के मार्मिक स्वरूप से परिचित करवाते हुए जन सामान्य को उनके प्रयोग हेतु रूचिवंत बनाना है।

इस खण्ड के **द्वितीय अध्याय** में मुद्रा प्रयोग के रहस्यात्मक पक्षों को उद्घाटित किया है। मुद्राओं का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है अत: सर्वप्रथम इसमें प्रयोजन आदि के आधार पर मुद्रा के विभिन्न प्रकारों की चर्चा की गई है। तदनुसार विभिन्न प्रसिद्ध ग्रन्थों का मुद्रा योग के विषय में क्या अभिमत है? मुद्रा योग की महत्ता क्यों है? आदि को स्पष्ट किया है। इससे मुद्रा विज्ञान की प्रामाणिकता एवं प्राचीनता सिद्ध होती है। इसके बाद आज के वैज्ञानिक युग में जीवन के सर्वतोमुखी अभ्यास के लिए मुद्रा योग की आवश्यकता एवं उपादेयता को प्रस्तुत किया है। विभिन्न यौगिक साधनाओं में मुद्राओं का महत्त्व एवं आवश्यकता किस प्रकार रही हुई है? तथा किस प्रकार मुद्रा योग समस्त यौगिक साधनाओं को पूर्णता प्रदान करता है? आदि का मार्मिक विवरण प्रस्तुत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया है। अन्त में मुद्रा साधना से व्यक्ति को होने वाले लाभ एवं तत्सम्बन्धी कुछ रहस्यात्मक पक्षों को उजागर किया है। इस अध्याय लेखन का मुख्य हेतु मुद्राओं की महत्ता, आवश्यकता एवं सामर्थ्य को प्रकट करना है।

तृतीय अध्याय में मुद्रा योग का ऐतिहासिक अनुसंधान किया गया है। भारतीय संस्कृति में मुद्राओं की अवधारणा प्राच्य काल से देखी जाती है। पूर्वकाल में जब भाषा का समुचित विकास नहीं हुआ था तब मुद्रायोग एक मात्र विचारों के संप्रेषण का मुख्य साधन था।

चर्चित अध्याय में मुख्य रूप से मुद्रा का उद्भव कब, किन स्थितियों में हुआ? विभिन्न धर्म परम्पराओं में इसका अस्तित्व किस रूप में है? भिन्न-भिन्न परम्पराओं में इसका महत्त्व क्यों है? वर्तमान में इसका प्रयोग उपचार के क्षेत्र में सर्वाधिक क्यों? ऐसे कई बिन्दुओं पर विचार किया गया है।

इस अनुचिंतन के माध्यम से मुद्राओं की सर्वकालिकता एवं सर्वग्राह्यता को सुस्पष्ट किया गया है।

मुद्रा विज्ञान एक विश्व विस्तृत विद्या है। सर्वत्र इसका समादर एवं समाचरण एक लाभकारी सर्वांगीण साधना के रूप में किया जाता है। विविध भारतीय परम्पराएँ हो अथवा अन्य विदेशी धर्म संप्रदाय, अध्यात्म का क्षेत्र हो या कला का क्षेत्र, आधुनिक जीवनशैली हो अथवा प्राचीन सभ्यता सभी में मुद्राओं का उपयोग एवं महत्त्व यथावत है। इसी सत्य को परिपुष्ट करने हेतु जैन एवं जैनेतर परम्परा में उपलब्ध मुद्राओं की सूची देते हुए उसका तुलनात्मक अध्ययन **चतुर्थ अध्याय** में प्रस्तुत किया गया है। यह अध्याय विविध परम्पराओं में मुद्रा योग की व्यापकता को प्रकाशित करता है।

इस पन्द्रहवें खण्ड का अंतिम पाँचवां अध्याय उपसंहार रूप में वर्णित है। मुद्रा मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह व्यक्ति के मन, वचन, काया द्वारा अभिव्यक्त होती है तथा शरीर के बाह्य एवं आभ्यंतर समक्ष घटकों को प्रभावित करती है।

इस अध्याय में मुद्रा शब्द का विश्लेषण करते हुए उसके विभिन्न अर्थ एवं उनके प्रयोजन बताए गए हैं। मुद्रा योग की मूल्यवत्ता को दर्शाने हेतु मानव शरीर के साथ मुद्राओं के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। साथ ही अध्ययन की दृष्टि से इसके विभागीकरण आदि की चर्चा की गई है। इस प्रकार शोध प्रबन्ध के चतुर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाग का प्रथम खण्ड मुद्रा योग की जानकारी के लिए एक Short encyclopedia है। आगे के खण्डों की संक्षिप्त पृष्ठ भूमि है। साधना में सिद्धि प्राप्त करने हेतु सहयोगी चरण है।

इस खण्ड के माध्यम से आम जनता मुद्रा योग से परिचित हो पाएं तथा अपने दैनिक जीवन में इस साधना के द्वारा विविध क्षेत्रों में ऐच्छिक लाभ प्राप्त कर पाएं यही लघु प्रयास किया है।

खण्ड-16

नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन

मुद्रा योग पर इस शोध कार्य को गति देते हुए सोलहवें खण्ड में नाट्यकला संबंधी मुद्राओं के महत्त्व, उसके विकास आदि पर चर्चा की है। खण्ड-15 में मुद्रा योग के आवश्यक सुविस्तृत परिचय के बाद सर्वप्रथम नाट्य मुद्राओं को स्थान क्यों दिया गया? इसकी चर्चा हम पूर्व में विविध खण्डों का निरूपण करते समय कर चुके हैं।

विविध कलाओं में नाट्य कला का अप्रतिम स्थान है। आदि काल से इसे विश्व संस्कृति की प्राचीनतम धरोहर के रूप में स्वीकृत किया गया है। नाट्य कला का विकास मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में हुआ। पूर्वकाल से अपने आनंद, हर्ष आदि की अभिव्यक्ति हेतु मनुष्य ने नृत्य, नाटक, संगीत आदि का सहारा लिया है। नाट्य में वाचिक एवं कायिक अभिनय के साथ हस्त मुद्राओं से रहस्यमय अर्थ की अभिव्यक्ति की जाती है।

मुद्राओं का मूल एवं अर्थ पूर्ण स्वरूप नाट्यकला में ही अभिव्यक्त होता है। भारतीय विद्वानों ने इस कला को अक्षुण्ण बनाए रखने एवं इसके महत्त्व को दिग्दर्शित करने हेतु अनेक नाट्य शास्त्रों की रचना की है। ऐतिहासिक प्रमाणों से अवगत होता है कि नाट्य शास्त्र के आदि कर्ता भरतमुनि ईसा पूर्व प्रथम / द्वितीय शताब्दी के थे। वहीं से नाट्य मुद्राओं के ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त होते हैं।

नाट्य मुद्राओं का प्रयोग मात्र नाट्य कला में ही नहीं अपितु हमारे दैनिक जीवन में भी नित्य प्रति देखा जाता है। नाट्य कला में मनुष्य के विभिन्न भावों की हुबहु अभिव्यक्ति की जाती है और कहीं न कहीं यह अभिव्यक्ति हमारे दैनिक जीवन शैली से ही प्रभावित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि जैन विचारणा से चिंतन करें तो भगवान ऋषभदेव ने भरत खंड में कर्म युग का प्रारंभ करते हुए विविध कलाओं का शिक्षण दिया उसी में से एक नाट्य कला भी थी। संभवत: नाट्यकला का संबंध भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती से भी हो सकता है। अत: विविध परम्पराओं में प्राप्त मुद्राओं में सर्वप्रथम नाट्य मुद्राओं का उल्लेख किया है।

इस विषय पर शोध करने की आवश्यकता एवं उपादेयता के सम्बन्ध में पूर्व ही चर्चा कर चुके हैं। यह शोध खण्ड सात अध्यायों में उपविभाजित है। इस खण्ड में भरत के नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों में प्राप्त मुद्राओं का अनुशीलन किया गया है।

प्रथम अध्याय में मुद्रा के विभिन्न प्रभावों का प्रतिपादन किया है। मुद्रा एक ऐसी योग पद्धति है जिसके माध्यम से प्राचीन साधकों एवं दार्शनिकों की अनुभूति से संप्राप्त बोध एवं साधना पद्धति को आधुनिक तथा वैज्ञानिक संदर्भों में प्रतिपादित किया जा सकता है। इस प्राच्य विद्या का प्रयोग वर्तमान में एक नई दिशा प्रदान कर सकता है। आज सम्पूर्ण विश्व में विविध परिप्रेक्ष्यों में उभर रही समस्याओं का समाधान इस एक विद्या के द्वारा हो सकता है। मुद्रा साधना हमारे दैनन्दिन प्रयोग की विधि है इसका नियमित विधिवत उपयोग विभिन्न क्षेत्रों में लाभ प्रदान कर सकता है।

इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्रस्तुत अध्याय में मुद्राओं से प्रभावित सप्त चक्रादि के विशिष्ट प्रभावों की चर्चा की है। इसके अन्तर्गत सप्त चक्र, अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ, चैतन्य केन्द्र एवं पंच तत्त्व आदि को मुद्रा प्रयोग द्वारा किस प्रकार सक्रिय एवं संतुलित किया जा सकता है? हमारे शरीर को यह किस रूप में प्रभावित करते हैं? एवं मुद्रा प्रयोग द्वारा इनमें क्या परिवर्तन लाए जा सकते हैं? आदि का मौलिक एवं विशेषज्ञों द्वारा ज्ञापित सार स्वरूप प्रस्तुत किया है।

अध्याय के अन्त में मुद्रा प्रयोग को सरल एवं सुपरिणामयुक्त बनाने के लिए मुद्रा प्रयोग के नियम-उपनियम एवं आवश्यक जानकारी का भी विवेचन किया है। यह अध्याय मुद्रा प्रयोग में हमारी जागृति एवं अभिरूचि बढ़ाते हुए मुद्रा विज्ञान की अक्षुण्णता में सहायभूत बने यह आन्तरिक प्रयास किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय अध्याय में सबसे प्राचीन भरतमुनि रचित नाट्य शास्त्र की मुद्राओं का स्वरूप,प्रयोजन एवं उनके लाभ बताए गए हैं।

भरत नाट्यम् भारतीय नृत्य कलाओं में प्रसिद्ध एवं प्राचीन कला है। इससे संदर्भित नाट्य शास्त्र की मुद्राओं को 1. असंयुक्त हस्त मुद्रा 2. संयुक्त हस्त मुद्रा एवं 3. नृत्तहस्त मुद्रा इन तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

इस अध्याय में 'द मिरर ऑफ गेश्चर' एवं 'भरत नाट्य शास्त्र' दोनों में उल्लेखित मुद्राओं का सचित्र स्वरूप वर्णन किया गया है। दोनों ग्रन्थों में यद्यपि मुद्राएँ समान आशय के साथ प्राप्त होती है परन्तु स्वरूप में किंचिद भिन्नता पाई जाती है।

इस अध्याय में मुद्राओं के स्वरूप वर्णन के साथ शरीर के विभिन्न अवयवों पर उसके लाभ आदि की चर्चा की गई है।

इस अध्याय का ध्येय नाट्य मुद्राओं को मनोरंजक के साथ सर्वांगीण विकास में हेतुभूत बनाते हुए दिगन्त व्यापी बनाना है।

पुराण भारतीय साहित्य की एक अनमोल कृति है। इसी प्रकार कई ऐसे साहित्य ग्रंथ हैं जिनका मुख्य संबंध अध्यात्म या अन्य विषयों से है परंतु उनमें मुद्राओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। विवेच्य ग्रंथ मुद्रा योग की व्यापकता के परिचायक हैं। ऐसे ही विष्णु धर्मोत्तर पुराण आदि कुछ ग्रन्थों में प्राप्त मुद्राओं का उल्लेख **तृतीय अध्याय** में किया गया है।

इस अध्याय में वर्णित अधिकांश मुद्राओं का स्वरूप भरत नाट्य के समान ही है। इसमें प्राय: उन्हीं मुद्राओं का नामोल्लेख किया गया है। इस वर्णन से मुद्राओं का विस्तृत स्वरूप ज्ञात होता है।

इस खण्ड के **चतुर्थ अध्याय** में अभिनय दर्पण में वर्णित अतिरिक्त मुद्राओं के सुप्रभावों का वर्णन किया गया है। अभिनय दर्पण नन्दिकेश्वर कृत नाट्य सम्बन्धी असाधारण ग्रन्थ माना जाता है। इसमें नाट्य सम्बन्धी मुद्राओं का सुविस्तृत विवेचन है। इस ग्रन्थ में उल्लेखित मुद्राओं में से कुछ मुद्राओं का स्वरूप भरत नाट्य से भिन्न हैं एवं कुछ अतिरिक्त मुद्राओं का भी उल्लेख किया गया है।

इस अध्याय का लक्ष्य प्राच्य ग्रन्थों को समाज में उपदर्शित कर उन्हें चिरस्मरणीय बनाना तथा उनके ज्ञान को जन जीवन में आचरित करवाना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाँचवें अध्याय में भारतीय परम्परा में प्रचलित मुद्राओं की विधि एवं उद्देश्य का वर्णन किया गया है।

किसी भी कार्य की शुरूआत करने के बाद कालान्तर में उसका स्वरूप विस्तार को प्राप्त करता ही है। इसका एक कारण है कि केवली पुरुषों के अतिरिक्त किसी का भी ज्ञान परिपूर्ण नहीं होता। जो पूर्ण न हो उसमें परिवर्तन एवं परिवर्धन होता ही है। भारतीय परम्परा में भरत नाट्य शास्त्र से प्रारंभ हुई नाट्य कला के साथ कालान्तर में अनेक नाम जुड़े। क्षणै:-क्षणै: अनेक नई मुद्राओं का समावेश इसमें हुआ। उन्हीं मुद्राओं का उल्लेख इस अध्याय में किया गया है।

इस अध्याय में 96 सामान्य मुद्राएँ, 12 सम्बन्ध सूचक मुद्राएँ एवं 9 अवतार सम्बन्धी मुद्राओं का विस्तृत उल्लेख किया है। साथ ही उनकी साधना से प्राप्त सुपरिणामों का भी वर्णन किया है।

भारतीय शिल्पकला एवं मूर्तिकला के वैशिष्ट्य की ख्याति सम्पूर्ण विश्व में है। भारतीय मंदिर कलाकारी के बेजोड़ नमूने रहे हैं। मुद्राओं की प्राचीनता को सिद्ध करने हेतु इनका विशिष्ट योगदान भारतीय साहित्य परम्परा में रहा है। प्राय: शिल्प शास्त्र से जुड़ी हर प्रतिमा में कोई न कोई मुद्रा प्राप्त हो ही जाती है। T.A. Gopinath Rao ने Elements of Hindu Iconography में इसका विशद सप्रमाण उल्लेख भी किया है।

षष्ठम अध्याय में शिल्पकला एवं मूर्तिकला में प्राप्त मुद्राओं का उल्लेख किया है। यह वर्णन हमें अपने आस-पास के वातावरण में मुद्रा विज्ञान की पहचान करवाएगा एवं हमारी दृष्टि को इस विषय में सक्रिय करेगा।

अंतिम **सप्तम अध्याय** में उपसंहार के रूप में नृत्यकला से सम्बन्धी मुद्राओं द्वारा भौतिक एवं आध्यात्मिक चिकित्सा कैसे की जा सकती है? इसका वर्णन किया है। विभिन्न शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं में कौन सी मुद्रा की साधना लाभप्रद हो सकती है। इसका वर्णन चिकित्सकों द्वारा प्रयोग करके उनके द्वारा प्राप्त परिणामों के आधार पर किया गया है।

इस अध्याय का लक्ष्य आज की आधुनिक पीढ़ी को हमारी प्राच्य सभ्यता एवं संस्कृति की ओर आकर्षित करना है। आज किसी भी क्रिया, वस्तु या व्यक्ति को तभी जीवन में अपनाया जाता है जब उससे कोई प्रत्यक्ष एवं त्वरित लाभ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्त होने की संभावना हो। मुद्रा योग इंजेक्शन की भाँति त्वरित लाभ कर सकता है यदि उसकी समुचित साधना की जाए। नाट्य मुद्राओं का प्रयोग सामान्य दिनचर्या में तो होता ही है। साथ ही नृत्य, कला मंच आदि में भी देखा जाता है। विश्वविख्यात नाट्यकला की उपादेयता को और अधिक वर्धित करने में यह सहायभूत होगा। इसी के साथ मुद्राओं की ऐतिहासिकता एवं गुणाधिकता से पहचान करवाते हुए उनके उपयोग को विश्वव्यापी बनाएगा।

खण्ड-17

जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा

मुद्रा योग जैन विधि-विधानों का मुख्य अंग है। यदि आगम साहित्य का आलोडन करें तो कहीं-कहीं पर कुछ मुख्य आराधनाओं के लिए कुछ विशिष्ट मुद्राओं का निर्देश प्राप्त होता है। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रत्येक क्रिया का गुंफन अनेक बार प्रयोग करने के पश्चात गीतार्थ मुनियों के निर्देश अनुसार हुआ है। जैन प्रतिमाओं में भी मुद्रा दर्शन होते हैं अतः जितना प्राचीन जैन प्रतिमाओं का इतिहास है उतना ही प्राचीन है जैन मुद्राओं का इतिहास। यदि और भी अधिक गहराई से चिंतन करें तो यह मुद्राएँ तीर्थंकर परमात्मा से सम्बन्धित है अतः जब से तीर्थंकर अर्थात जिन धर्म का अस्तित्व है तभी से मुद्राओं का भी अस्तित्व जैन धर्म में सुसिद्ध है।

आगम साहित्य में मुद्रा विषयक उल्लेख सीमित है। मध्यकाल के अन्तिम पड़ावों में जैनाचार्यों द्वारा मुद्राओं पर विस्तृत लेखनी चलाई गई। इसका एक मुख्य कारण रहा उस समय में बढ़ते विधि-विधान। जैन धर्म निवृत्ति मूलक माना जाता है परंतु सामाजिक एवं लौकिक प्रभावों के तहत उसमें कालगत कई परिवर्तन आए। विधि-विधानों की अभिवृद्धि के साथ तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री में भी वर्धन हुआ। मुद्रा उसी का एक अंग है।

यदि जैन साहित्य में मुद्रा विषयक साहित्य का विभागीकरण किया जाए तो बहुत विशद साहित्य उपलब्ध नहीं होता। कई विधि-विधानों के ग्रंथ में एक विभाग इससे सम्बन्धित है तो कहीं-कहीं पर कुछ मुद्राओं के प्रयोग का निर्देश है। विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर, कल्याणकलिका आदि विधि-विधान प्रमुख ग्रन्थों में मुद्राओं का विस्तृत उल्लेख है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुद्रा प्रकरण एवं मुद्रा विधि नामक दो रचनाएँ स्वतंत्र रूप से मुद्रा प्रयोग पर ही रचित प्राप्त हुई है। वर्तमान में प्रेक्षाध्यान आदि के अन्तर्गत कुछ नूतन मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता है।

यदि इन मुद्राओं का गहराई से अध्ययन करें तो अनेक रहस्यपट उद्घाटित होते हैं। प्रत्येक मुद्रा सप्रयोजन किसी भी विधान से जोड़ी गई है। उस विधान में त्रियोग रूप से जुड़ाव होने में मुद्राएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती हैं। इसी के साथ मुद्रा साधना शरीर के विभिन्न तंत्रों को सक्रिय एवं संतुलित करती है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी मुद्रा साधना का आश्चर्यकारी प्रभाव देखा जाता है। इसका अनुभव हम अपने दैनन्दिन जीवन में भी करते हैं। इसी प्रभाव को ध्यान में रखकर जैनाचार्यों ने प्रत्येक क्रिया के साथ किसी न किसी मुद्रा का उल्लेख किया है जो उस कार्य की सिद्धि में सहायक बनती है।

मुद्रा विज्ञान का विस्तृत अध्ययन करते हुए जैन मुद्रा विज्ञान को चौथे भाग के तीसरे उपखण्ड अर्थात सत्रहवें खण्ड के रूप में विवेचित किया है। इस खण्ड में जैन परम्परा की मुद्राओं का समीक्षात्मक अध्ययन करते हुए उसे पाँच अध्यायों में प्रस्तुत किया है।

प्रथम अध्याय पूर्वोक्त खण्ड-16 के प्रथम अध्याय के समान ही है। इसमें मुद्रा प्रयोग के विभिन्न प्रभाव बतलाए गए हैं। **द्वितीय अध्याय** में 14वीं शती के महान आचार्य जिनप्रभसूरि द्वारा रचित विधिमार्गप्रपा की लगभग 75 मुद्राओं का सोद्देश्य स्वरूप एवं उसके प्रभावों की चर्चा की गई है। जैन विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थों में विधिमार्गप्रपा अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वर्तमान प्रचलित अधिकांश विधि-विधान इसी के आधार पर करवाए जाते हैं।

इस ग्रन्थ में उल्लेखित मुद्राओं का प्रयोग विभिन्न कार्यों के लिए होता है। शरीर, स्थान, वातावरण, हृदय आदि की शुद्धि हेतु कुछ मुद्राओं का उल्लेख है तो कुछ देवी-देवताओं को आमन्त्रित करने हेतु उपयोग की जाती है। ऐसे ही अनेक प्रयोजन इन मुद्राओं के प्रयोग के पीछे समाहित है। इस अध्याय में उन मुद्राओं का सुविस्तृत स्वरूप, उसकी विधि, साधना से प्राप्त सुपरिणाम एवं मुद्रा धारण करने के विशिष्ट प्रयोजनों का भी उल्लेख किया है।

इस अध्याय के माध्यम से विधि-विधानों के अभिप्राय का स्पष्टीकरण होगा तथा उन विधि-विधानों में आंतरिक जुड़ाव हो पाएगा। इसी के साथ उन विधानों की सम्यक सिद्धि भी हो पाएगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस खण्ड के **तृतीय अध्याय** में 15वीं शती के दिग्गजाचार्य श्री वर्धमानसूरि द्वारा उल्लेखित मुद्राओं का रहस्यपूर्ण विश्लेषण किया है। विधि-विधान सम्बन्धी रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में आचार्य वर्धमानसूरि का क्रांतिकारी योगदान रहा है। उन्होंने पूर्व ग्रन्थों में उल्लेखित मुद्राओं का विस्तृत विवेचन करते हुए विधि-विधान में उपयोगी मुद्राओं का भी सविस्तार उल्लेख किया है।

इस अध्याय में आचारदिनकर निर्दिष्ट 23 मुद्राओं का रहस्योद्घाटक सचित्र वर्णन किया है। इस विवरण के माध्यम से मुद्रा प्रयोग के लौकिक एवं लोकोत्तर परिणामों की अनुभूति हो सके एवं विधि-विधानों के प्रति व्याप्त भ्रान्त मान्यताएँ समाप्त हो सके यही प्रयास किया है।

चतुर्थ अध्याय में प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों में उपलब्ध शाताधिक मुद्राओं का प्रभावी वर्णन किया गया है। इसमें मुख्य रूप से मुद्रा विधि एवं मुद्रा प्रकरण इन द्वय ग्रन्थों में प्राप्त मुद्राओं का सस्वरूप चित्रांकित विस्तृत वर्णन है। प्रतिष्ठा, पूजन, महापूजन, दीक्षा आदि विविध धार्मिक प्रसंगों में भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति हेतु इन मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है।

इस अध्याय लेखन के पीछे मुख्य रूप से विविध जैन मुद्राओं का स्वरूप अभिव्यक्त कर उन्हें जन उपयोगी एवं प्रचलित करने का लक्ष्य रहा हुआ है। इन्हीं प्रयासों के माध्यम से जैन साधना पद्धति जन साधना पद्धति बन सकती है।

पंचम अध्याय उपसंहार के रूप में निरुपित है। इस अध्याय में मुद्राओं का आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करते हुए रोगोपचार उपयोगी जैन मुद्राओं का उल्लेख किया गया है।

मनुष्य शरीर रोगों का पिण्ड है। साढ़े तीन करोड़ रोम-राजी में प्रत्येक रोम में पौने दो रोग छिपे हुए हैं। कब, कौनसा रोग किस निमित्त से प्रकट हो जाए कोई नहीं जानता। धर्माचार्यों ने इस सत्य को अनुभूत किया एवं विविध साधनात्मक प्रयोग करके उन समस्याओं के समाधान करने का भी प्रयत्न किया।

पाँचवें अध्याय में मुद्रा रूपी योग साधना के माध्यम से दैहिक स्वच्छता, वैचारिक ऊर्ध्वता एवं मानसिक शांतता पाने का प्रयास किया है।

यह खण्ड विधि-विधान और क्रियाकांड को निरर्थक एवं अप्रासंगिक मानने वाले युवा वर्ग के लिए Alarm clock के समान जागने का सूचक होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसकी वैविध्यपूर्ण उपयोगिता इसके प्रचार-प्रसार एवं जनग्राह्यता में सहायक बनेगी। आधुनिक चिकित्सा पद्धति के लिए इसके प्रयोगात्मक परिणाम वरदान रूप सिद्ध होंगे।

मुद्रा योग के इस अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए खण्ड-18 में हिन्दू मुद्राओं का विवेचन किया है।

खण्ड–18

हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में

हिन्दू परम्परा विश्व में सनातन परम्परा के रूप में जानी पहचानी जाती है। प्रागैतिहासिक काल से इसके अस्तित्व के प्रमाण प्राप्त होते हैं। यह एक अध्यात्म प्रधान संप्रदाय है।

प्रत्येक धर्म संप्रदाय का प्राण तत्त्व होती है उसकी पूजा-उपासना पद्धति। विविध स्थानों एवं हजारों लोगों के आचरण में एकरूपता रखने हेतु अनेक नियमबद्ध विशिष्ट प्रक्रियाएँ निर्दिष्ट है। इस विधि प्रक्रिया में मुद्रा प्रयोग का स्वतंत्र स्थान है।

हिन्दू परम्परावर्ती विविध धार्मिक अनुष्ठान जैसे कि सूर्य नमस्कार, मंत्र स्नान, पूजा, हवन आदि में अनेकशः मुद्राओं का प्रयोग होता है। परंतु अधिकांश आर्यवर्ग इसकी प्रयोग विधि एवं परिणाम आदि से अनभिज्ञ हैं। कई लोग मात्र पूर्व परम्परा के अनुकरण रूप अथवा देखा-देखी क्रियाओं का अंधानुकरण करते हैं। संभवतः इसी कारण आध्यात्मिक साधनाओं का यथोचित परिणाम प्राप्त नहीं होता। गीता, महाभारत आदि ग्रन्थों में भगवान श्रीकृष्ण, मर्यादा प्रतिपालक श्रीराम आदि अवतार पुरुषों द्वारा मुद्राओं को धारण करने का उल्लेख है। देवी-देवताओं के विषय में भी अनेक मुद्राओं का वर्णन मिलता है।

हिन्दू धर्म में मुद्राओं की ऐतिहासिकता एवं प्रयोग सुसिद्ध है। हिन्दू धर्म के ग्रन्थों में भी अनेक स्थानों पर मुद्रा प्रयोग के उल्लेख प्राप्त होते है। हिन्दू अर्थात वैदिक परम्परा एवं श्रमण परम्परा में निकटतापूर्ण संबंध रहे हैं। कई क्रियाओं में दोनों पर एक दूसरे का प्रभाव परिलक्षित होता है। कई मुद्राएँ दोनों परम्पराओं में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशिष्ट रूप से आचरित की जाती है। इन्हीं सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए एवं जैन विधि-विधानों का शोध करते हुए हिन्दू परम्परा में प्रयुक्त मुद्राओं पर भी अध्ययन किया। उसका सार रूप खण्ड-18 के रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत है।

मुद्रा योग सम्बन्धी यह चतुर्थ उपखण्ड सात अध्यायों में वर्गीकृत है। इन सात अध्यायों के माध्यम से हिन्दू परम्परा में उपयोगी प्रचलित मुद्राओं की उपादेयता साधना एवं चिकित्सा के क्षेत्र में सिद्ध करने का प्रयास किया है।

प्रथम अध्याय में मुद्रा प्रयोग के द्वारा शरीर के सूक्ष्म शक्ति स्थानों पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसकी चर्चा की गई है। यह वर्णन खण्ड-16 के प्रथम अध्याय के समान ही है।

द्वितीय अध्याय हिन्दू परम्परा सम्बन्धी विविध कार्यों हेतु प्रयुक्त मुद्राओं के प्रासंगिक स्वरूप का वर्णन करता है।

इस अध्याय में देवी-देवताओं द्वारा धारण की गई, उन्हें प्रसन्न करने के लिए धारण की जाने वाली एवं अन्य धर्म एवं सामान्य कार्य में उपयोगी मुद्राओं का सचित्र निरूपण किया है। इसी के साथ मुद्रा निर्माण विधि एवं उसके द्वारा प्रभावित सप्त चक्र आदि भी विशेषज्ञों द्वारा किए गए अनुसंधान के आधार पर बताए गए हैं।

यह अध्याय विविध मुद्राओं की उपयोगिता एवं अर्थवत्ता को सिद्ध करता है।

तृतीय अध्याय में हिन्दू धर्म के प्राचीन एवं प्रचलित ग्रन्थों में उल्लेखित मुद्राओं का सचित्र स्वरूप वर्णन किया है। इन मुद्राओं का प्रयोग विविध साधनाओं एवं देवी-देवताओं के स्वरूप आदि को अभिव्यक्त करने हेतु किया जाता है।

यह अध्याय पूर्वकालीन ग्रन्थों में वर्णित मुद्राओं के अस्तिव के माध्यम से मुद्रा विज्ञान की प्राच्यता एवं हिन्दू साधना पद्धति में उसकी आवश्यकता को सुसिद्ध करता है।

गायत्री जाप साधना हिन्दू धर्म की एक अति प्रचलित क्रिया साधना है। इसका प्रयोग आध्यात्मिक समृद्धि एवं लौकिक सिद्धियों की प्राप्ति हेतु किया जाता है। इसी मुख्यता को प्रदर्शित करने हेतु **चौथे अध्याय** में गायत्री जाप साधना एवं संध्या कर्म आदि में उपयोगी मुद्राओं की रहस्यमयी विधियों का उल्लेख किया गया है।

सामान्यतः इस अध्याय में गायत्री जाप सम्बन्धी 32 मुद्राओं के निर्माण की विधि, चित्र एवं उनकी साधना द्वारा शारीरिक स्तर पर प्राप्त परिणामों की चर्चा की गई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह वर्णन साधकों को साधना में और अधिक एकाग्र एवं समर्पित बनाते हुए युवा पीढ़ी के जुड़ाव में सहयोगी बनेगा यह अपेक्षा करते हैं।

पूजा-उपासना भारतीय संस्कृति की मूल पहचान है। आज भी संध्या के समय गंगा तट पर शंख एवं घंटों का नाद सुनाई देता है। मन्दिरों में आरती के स्वर गुंजित होते हैं एवं पंडितों के मुख पर मंत्र रटन सुनाई देने लगता है। इन सब में एक प्रमुख क्रिया है मुद्रा प्रयोग।

खण्ड–18 के **पाँचवें अध्याय** में पूजोपासना आदि में प्रचलित मुद्राओं की प्रयोग विधि बताई गई है। इस अध्याय में षडंगन्यास, जीवन्यास, करन्यास, मातृकान्यास पूजोपचार, ध्यान आदि सम्बन्धी मुद्राओं का सुविस्तृत विवेचन किया गया है।

यह उल्लेख योग साधकों के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। इस अध्याय में वर्णित मुद्रा विधियाँ तत्सम्बन्धी परिणाम एवं मुद्रा चित्र इस साधना को और भी अधिक सरल बनाते हैं।

षष्ठम अध्याय में उन मुद्राओं को रेखांकित किया है जो बौद्ध एवं हिन्दू परम्पराओं में समान रूप से प्रचलित एवं आचरित है। हिन्दू एवं बौद्ध परम्परा में अनेक साम्यताएँ देखी जाती है। यद्यपि दोनों संस्कृतियाँ अलग-अलग है परंतु दोनों में परस्परिक संबंध पूर्व काल से रहा है। इसी साम्यता को षष्ठम अध्याय में पुष्ट किया गया है।

इस अध्याय में उल्लेखित मुद्राएँ धर्म साधना में तो सहयोगी बनती ही है। साथ ही अनेक मानसिक एवं शारीरिक उपलब्धियाँ भी करवाती है।

यह अध्याय हिन्दू परम्परा की ही नहीं बौद्ध परम्परा के साधकों को भी आकर्षित करेगा एवं उनके आचरण हेतु प्रेरित करेगा।

इस खण्ड का **अन्तिम अध्याय** उपसंहार रूप में वर्णित है। मुद्रा साधना का मुख्य उत्स यद्यपि आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति है परंतु खेती करते हुए धान्य के साथ घास-फूस तो स्वयमेव ही प्राप्त हो जाते हैं। उसी तरह मुद्रा साधना के द्वारा आत्मिक शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के साथ-साथ शारीरिक स्वस्थता, मानसिक एकाग्रता, बौद्धिक उच्चता आदि स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं।

इस तरह सप्तम अध्याय में मुद्रा साधना के आध्यात्मिक एवं भौतिक सुपरिणाम रूप होने वाले रोग-निवारण की सूची प्रस्तुत की गई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस अध्याय में वर्णित जानकारी के माध्यम से आम जन समुदाय धार्मिक साधनाओं का मूल्य विविध परिप्रेक्ष्य में जान पाएगा।

यह खण्ड भारतीय सभ्यता की सशक्त आधारभूत हिन्दू परम्परा की मौलिकता, साधना की सर्वांगीणता, जन कल्याण के प्रति कटिबद्धता आदि को पुष्ट करती है। भौतिक साधनों की ओर आकृष्ट हो रहे वर्तमान समाज को पुनः धर्म मार्ग की ओर प्रेरित करने में यह कृति चुम्बक का कार्य करेगी।

खण्ड-19

बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन

मुद्रा योग पर चल रही इस शोध श्रृंखला के अन्तर्गत चौथे भाग के पाँचवें उपखण्ड के रूप में बौद्ध परम्पराओं में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन किया गया है।

इस विश्व में प्रचलित धर्म परम्पराओं में बौद्ध धर्म का अपना गरिमापूर्ण स्थान है। आज एक विशाल जन समुदाय इस धर्म परम्परा का अनुयायी है। भारत में यद्यपि श्रमण संस्कृति में बौद्ध एवं जैन धर्म दोनों का उद्‌भव हुआ। सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन सिद्धान्तों का जहाँ विश्व भर में प्रचार हुआ वहीं बौद्ध परम्परा के अनुयायी एवं इस परम्परा का वर्चस्व अन्य देशों में भी बहुतायत में हुआ। दोनों ही परम्परा की मूल शिक्षाएँ अध्यात्म की ओर अग्रसर करती है।

बौद्ध परम्परा का मूल मंत्र है– 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।' भगवान बुद्ध, उनके द्वारा प्रस्थापित धर्म एवं बौद्ध धर्म संघ ही प्रमुख शरणभूत है। इनकी शरण में जाने मात्र से जीवन का कल्याण हो सकता है।

बौद्ध धर्म के संस्थापक भगवान बुद्ध, भगवान महावीर के समकालीन थे। दोनों परम्पराओं की मूल विचारणा में अधिकांश साम्यता देखी जाती है। भगवान बुद्ध का जीवन चित्रण जातक कथाओं के आधार पर किया जाता है। उनकी शिक्षाएँ अधिकांश मौखिक रूप में ही प्राप्त होती है। इनके सिद्धान्तों की प्ररूपणा मुख्य रूप से संसार, पुनर्जन्म और कर्म पर आधारित थी। चार आर्यसत्य, आष्टांगिक मार्ग,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतीत्य समुत्पाद आदि भगवान बुद्ध के मूलभूत सिद्धान्त हैं। इसके अतिरिक्त ध्यान, विपश्यना, निर्वाण आदि कई विषयों की भी सुंदर व्याख्याएं यहाँ पर प्राप्त होती है।

मूलतः बौद्ध संस्कृति निवृत्तिमूलक है। कर्मकाण्ड को सर्वोपरि मुख्यता नहीं दी गई है। फिर भी हीनयान एवं महायान इन दोनों मुख्य परम्पराओं में प्रचुर रूप से कर्मकाण्ड का प्रवेश हो चुका है।

यदि मुद्रा योग की अपेक्षा से बौद्ध साहित्य का अध्ययन करें तो इस परम्परा में हमें सर्वाधिक मुद्राओं का उल्लेख प्राप्त होता है। इस परम्परा में 500 से अधिक देवी-देवता हैं जिन्हें मुख्य रूप से छः भागों में बांटा जा सकता है। इनकी पूजा उपासना में जो भी सामग्री प्रयुक्त की जाती है, उन सभी से सम्बन्धित मुद्राओं का उल्लेख भी हमें प्राप्त होता है।

यदि इन मुद्राओं की ऐतिहासिकता के विषय में विचार करें तो भगवान बुद्ध के जीवन से संदर्भित मुख्य रूप से पाँच मुद्राओं का उल्लेख प्राप्त होता है। यह मुद्राएँ अधिकांश बुद्ध प्रतिमाओं में भी परिलक्षित होती है। भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित 40 अन्य मुद्राओं का भी वर्णन प्राप्त होता है। यह मुद्राएँ उनके जीवनगत विविध घटनाओं को दर्शाती है। इनमें से कुछ मुद्राएँ तो बुद्ध प्रतिमाओं में प्राप्त होती है परंतु अधिकांश मुद्राओं के हमें चित्र ही प्राप्त होते हैं।

बौद्ध पूजा-उपासना के सम्बन्ध में सर्वाधिक मुद्राएँ प्राप्त होती है। सप्तरत्न, अष्टमंगल, अठारह कर्त्तव्य, बारह द्रव्य हाथ मिलन, म-म मडोस, गर्भधातु मण्डल, वज्रधातु मण्डल, होम एवं विविध देवी-देवताओं के संदर्भ में हमें सैकड़ों मुद्राओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं। विभिन्न बौद्ध संस्कृति प्रधान राष्ट्रों में स्व परम्परा अनुसार भी अनेकशः मुद्राओं का गुंफन हुआ है।

खण्ड-19 में बौद्ध परम्परा से सन्दर्भित मुद्राओं का चित्र सहित वर्णन किया गया है। यह खण्ड ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। **पहला अध्याय** मुद्रा साधना के द्वारा भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत पर होने वाले विभिन्न प्रभावों को वर्णित करता है। इसका वर्णन खण्ड–16 के प्रथम अध्याय के समान जानना चाहिए।

दूसरा अध्याय भगवान बुद्ध के जीवन में आचरित विभिन्न मुद्राओं का वर्णन करता है। सामान्यतया भगवान बुद्ध के जीवन के संदर्भ में अभय, ध्यान, भूमिस्पर्श, व्याख्यान और धर्मचक्र प्रवर्तन इन पाँच मुद्राओं का उल्लेख विशेष रूप से प्राप्त होता है। यह सभी मुद्राएँ बोधि प्राप्ति के बाद उनके जीवन की विशिष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधना का वर्णन करती हैं। इसी के साथ भगवान बुद्ध के जीवन से संदर्भित 40 मुद्राओं का चित्रण उपलब्ध होता है। यह 40 मुद्राएँ भगवान बुद्ध के साधना काल का वर्णन करती हैं। इसमें भगवान की तप साधना, धर्मोपदेश, शिक्षा ग्रहण आदि विविध घटनाओं का वर्णन है।

प्रस्तुत अध्याय में इन मुद्राओं की प्रामाणिक विधियाँ एवं उनके विविध प्रभावों का वर्णन किया है। इस अध्याय वर्णन का मुख्य ध्येय भगवान बुद्ध के जीवन से परिचित करवाते हुए उनकी साधना एवं शिक्षा को जीवन में आचरित करने का सूक्ष्म प्रयास करना है।

तीसरे अध्याय में सप्तरत्न सम्बन्धी मुद्राओं का सोद्देश्य स्वरूप वर्णित किया है। बौद्ध मान्यता के अनुसार सप्तरत्न विश्व सम्राट के सात विशेष प्रतीक होते हैं। जैन परम्परा में चक्रवर्ती के लिए इसी प्रकार के चौदह रत्नों का उल्लेख किया जाता है।

मुद्रा साधना के अन्तर्गत यह सात मुद्राएँ यद्यपि उन सप्त रत्नों की द्योतक हैं परंतु इन मुद्राओं को धारण करने का उद्देश्य आध्यात्मिक समृद्धि को प्राप्त करना है। इनकी साधना वज्रायना देवी तारा के समक्ष की जाती है।

इस अध्याय का मूल ध्येय विविध पूजा-उपासनाओं के आंतरिक लक्ष्य को सुस्पष्ट करना है।

चौथे अध्याय में अष्टमंगल से सम्बन्धित मुद्राओं का स्वरूप एवं मूल्य वर्णन किया है। बौद्ध मान्यता के अनुसार भगवान बुद्ध के चरणों में अष्ट मांगलिक चिह्न थे। यह चिह्न प्राणी मात्र को शुभत्व का संदेश देते हैं तथा जीव मात्र के लिए मंगल भाव प्रसरित करते हैं। वर्तमान में यह चिह्न विशेष धातु, काष्ठ या मिट्टी आदि पर उत्कीर्ण देखे जाते हैं। बौद्ध परम्परा की पूजा उपासना में यह मुद्राएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

इस अध्याय में अष्टमंगल का स्वरूप वर्णन करते हुए उनसे सम्बन्धित मुद्राओं का सचित्र वर्णन किया है। इन मुद्राओं को धारण करने से प्राप्त होने वाले सुपरिणामों का वर्णन भी इस अध्याय में किया गया है।

प्रस्तुत अध्याय में वर्णित 23 मुद्राओं का मुख्य ध्येय अष्ट मंगल के मांगलिक गुणों एवं शुभ भावों का जीवन में अवतरण करना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस खण्ड के **पाँचवें अध्याय** में अठारह कर्त्तव्य सम्बन्धी मुद्राओं का सविधि विश्लेषण किया है।

इसमें मुद्रा धारण करने से आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक क्षेत्र में होने वाले विभिन्न सुपरिणामों की चर्चा भी की गई है।

बौद्ध मुद्रा विषयक अध्ययन करते हुए ग्यारह ऐसी मुद्राओं का वर्णन प्राप्त होता है जिनका संबंध बौद्ध परम्परा की पूजा उपासना से है।यह मुद्राएँ विशेष रूप से दोनों हाथों का प्रयोग करके ही बनाई जाती है। इनका लक्ष्य पूजा के दौरान आंतरिक भावों को अभिव्यक्त करना है। **छठें अध्याय** में मुद्राओं को स्पष्ट करने के लिए उनका सुंदर चित्रण विधि एवं स्वरूप के साथ किया गया है।

सातवाँ अध्याय म-म-मडोस सम्बन्धी मुद्राओं का प्रयोग कब और क्यों करना चाहिए? इस विषयक सफल निर्देशन करता है।

म-म-मडोस वज्रायना देवी तारा के समक्ष की जाने वाली एक विशेष पूजा पद्धति है। इसमें प्रयुक्त छः मुद्राएँ भगवान बुद्ध के विशिष्ट ज्ञान प्रकाश की सूचक हैं एवं जीवन शुद्धिकरण में सहायभूत हैं। इस अध्याय में इनका वर्णन उपासना पद्धति को अधिक रूचिपूर्ण और जीवंत बनाने के लिए किया गया है।

मुद्रा प्रयोग एक सार्वभौमिक विधान है। मात्र आर्य सभ्यता में ही नहीं अपितु विश्व की विविध परम्पराओं में इन्हें समाचरित किया जाता है। **आठवें अध्याय** में जापानी बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं के रहस्यात्मक स्वरूप का वर्णन किया गया है।

इस अध्याय में लगभग 75 मुद्राओं का विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषण में विवेच्य मुद्राओं का महत्त्व एवं उनकी साधना के परिणामों का वर्णन है।

भारतीय वटवृक्ष की एक प्रमुख शाखा है बौद्ध संप्रदाय। भगवान बुद्ध का जन्म, विचरण, बोधि प्राप्ति, निर्वाण आदि समस्त प्रमुख घटनाएँ भारत की भूमि पर ही घटित हुई है। **नौवें अध्याय** में भारतीय बौद्धों द्वारा पूजा-उपासना में प्रयुक्त विशिष्ट मुद्राओं का उल्लेख किया गया है। यह मुद्राएँ मुख्य रूप से द्रव्य अर्पण से सम्बन्धित है। इन मुद्राओं का सचित्र विस्तृत उल्लेख साधना-उपासना को और अधिक भावपूर्ण एवं प्रभावी बनाएगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खण्ड-19 का **दसवाँ अध्याय** गर्भधातु-वज्रधातु मण्डल सम्बन्धी मुद्राओं की विधि एवं तात्कालिक प्रभाव का वर्णन करता है। प्रत्येक धर्म साधना में कुछ चित्रित यंत्रों का विशेष महत्त्व होता है। जैन परम्परा में सिद्धचक्र, ऋषिमण्डल, भक्तामर आदि के यंत्र तो वैदिक परम्परा में श्रीयंत्र, महाकाली यंत्र आदि। बौद्ध परम्परा में भी इसी भाँति कुछ यांत्रिक मण्डलाकृतियों का महत्त्व देखा जाता है। गर्भधातु मण्डल एवं वज्रधातु मण्डल के समक्ष की जाने वाली कुल 113 मुद्राओं का वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

यह मुद्राएँ होम, पूजन, यज्ञ आदि में धारण की जाती है। इसमें वर्णित विधि, स्वरूप, सुपरिणाम आदि इन मुद्राओं के महत्त्व को उजागर करते हैं एवं उनके प्रयोग हेतु सचेष्ट करते हैं।

बौद्ध मुद्रा सम्बन्धी शोध खण्ड का अन्तिम **ग्यारहवाँ अध्याय** उपसंहार रूप में भौतिक एवं आध्यात्मिक चिकित्सा में इन मुद्राओं के महत्त्व को प्रकट करता है।

प्राणिक हिलिंग एवं एक्युप्रेशर विशेषज्ञों द्वारा प्रयोग आधारित परिणामों के अनुसार यहाँ विविध रोगों के निवारण में उपयोगी मुद्राओं का निर्देशन दिया है।

इसके माध्यम से साधक वर्ग मुद्रा साधना रूपी आध्यात्मिक क्रियाओं की सहायता से विविध रोगों का घर बैठे उपशमन कर पाएगा। आवश्यकता है तो विशेषज्ञों द्वारा उन मुद्राओं को धारण करने की एवं उचित विधि समझकर उसे नियम अनुसार आचरण में लाने की।

इस खण्ड प्रस्तुति का मुख्य लक्ष्य बौद्ध परम्परागत मुद्राओं के महत्त्व को दिग्दर्शित करना तथा विविध धर्म परम्पराओं में व्यक्ति विकास के लिए साधना के रूप में छुपे हुए मोतियों को सीप से बाहर निकालना है।

खण्ड-20

यौगिक मुद्राएँ : मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करते हुए विधि-विधानों की व्यापकता एवं जैन दृष्टि में विशालता के प्रतीक रूप में इस शोध का चतुर्थ भाग विविध परम्पराओं में मुद्रा प्रयोग के महत्त्व पर आधारित है।

इस चतुर्थ भाग के छठे उपखण्ड अर्थात खण्ड-20 में यौगिक परम्परा में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रचलित मुद्राओं का विवेचन एवं मानसिक शांति में उसके अवदान पर चर्चा की गई है।

योग शब्द अति प्राचीन काल से जैन आगमों एवं वैदिक संहिता ग्रंथों में प्रयुक्त मिलता है। अधिकांश संदर्भों में इसका तात्पर्य सम्भवत: दो बातों की एकता या संयोग से है। ऋग्वेद में योग सम्भवत: ध्यान और समाधि के समय व्यक्ति के परम सत्ता रूप संयोग का द्योतक है। कठोपनिषद में पाँच इन्द्रियों के साथ संयुक्त मन और बुद्धि की स्थिरता को योग कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद में योगाभ्यास हेतु एकान्त और शान्त स्थल को प्रमुखता दी गई है।

योग साधना में मुद्रा, आसन, प्राणायाम आदि साधनाओं का विशेष महत्त्व रहा हुआ है। हठयोग, योग परम्परा की एक शाखा है जिसमें आसन एवं मुद्रा साधना का विशिष्ट मूल्य रहा हुआ है।

घेरण्ड संहिता, शिव संहिता, हठयोग प्रदीपिका आदि अनेक ग्रथों में योग सम्बन्धी अनेक मुद्राओं का वर्णन है। स्थूल परिशीलन करने पर हठयोग सम्बन्धी मुद्राएँ प्रारंभ में अस्वाभाविक सी प्रतीत होती है। क्योंकि वर्तमान में हमारा जीवन योग की साधारण स्थिति से बहुत दूर हो चुका है। शरीर और मन को शान्त करके वृत्तियों को बाहर से अन्दर की ओर मोड़ने के लिए कठोर अनुशासन की परम आवश्यकता है। इन कठोर मुद्राओं की निरन्तर साधना से देह और मन शान्त होता है तथा बहिर्मुखी शक्तियाँ अन्तर्मुखी होकर साधक को योग की उच्चतम स्थिति तक पहुँचाने में सक्षम होती हैं।

योग साधना प्रधान मुद्राओं का विवेचन करते हुए इस खण्ड को पाँच अध्यायों में विभाजित किया है।

प्रथम अध्याय में चक्र, केन्द्र, तत्त्व आदि के संतुलन-असंतुलन से होने वाले परिणामों की चर्चा की गई है।

द्वितीय अध्याय में सामान्य अभ्यास द्वारा सुसाध्य यौगिक मुद्राओं के स्वरूप एवं उनके महत्त्वपूर्ण प्रभावों का विश्लेषण किया है। योग साधना एक कठिन साधना है। प्रारंभ में ही कठिनता का सामना होने पर नूतन साधकों के विचलित होने अथवा साधना छोड़ने की संभावना अधिक रहती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्रथम अध्याय में अल्प अभ्यास या सहज रूप से साध्य मुद्राओं का विवेचन किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस अध्याय में मुद्राओं के आध्यात्मिक एवं साधनात्मक स्वरूप का वर्णन करते हुए उसकी विधि एवं निर्देश दिए गए हैं। इसी के साथ कौनसी मुद्रा की साधना किन ग्रन्थियों आदि को प्रभावित करती हैं एवं उनके सुपरिणाम क्या है इसका भी सुस्पष्ट वर्णन किया गया है।

इस अध्याय लेखन का मुख्य प्रयोजन जन मानस को योग साधना के मार्ग पर सुप्रवृत्त करना है।

इस कृति के **तृतीय अध्याय** में विशिष्ट प्रकार के अभ्यास द्वारा जिन मुद्राओं को सिद्ध किया जाता है उनके रहस्यपूर्ण स्वरूप का विवेचन किया है।

हठयोग एक कठिन साधना है। यह शरीर को साधने की मुख्य क्रिया है। हठ शब्द में 'ह' का अर्थ शरीर से बाहर जाने वाली वायु (प्राण) और 'ठ' शरीर के भीतर जाने वाली वायु (अपान) का सूचक है। इसीलिए प्राण वायु और अपान वायु का संयोग करने वाली क्रिया को हठयोग कहते हैं।

इस अध्याय में हठयोग की कठिन मुद्राओं को सरल एवं सुगम्य बनाने के लिए उनका विस्तृत विवेचन किया है। मुद्रा साधना हेतु ध्यान रखने योग्य सावधानियों को निर्देश रूप में विशेष रूप से सूचित किया है। इन मुद्राओं के अभ्यास द्वारा प्राप्त होने वाले सम्यक परिणामों का भी सूचन किया गया है।

इस खण्ड के **चौथे अध्याय** में चिकित्सा उपयोगी यौगिक मुद्राओं का चार्ट दिया है जो शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उपादेय है।

मुख्यतः इस अध्याय में मुद्राओं द्वारा होने वाले रोग निदान की सूची दी गई है। यह शारीरिक रोगों के शमन, मानसिक शांति की प्राप्ति एवं आध्यात्मिक उत्कर्षता में सहयोगी है।

अंतिम **पाँचवें अध्याय** में इस शोध खण्ड के लेखन में सहयोगी ग्रन्थों की सूची, मुद्रा निर्माण में उपयोगी विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का अर्थ तथा मुद्रा साधना के द्वारा प्रभावित होने वाले चक्र, ग्रन्थि एवं तत्वों का वर्णन किया है।

इस अध्याय का मुख्य ध्येय हठयोग की कठिन भाषा और मुद्रा दोनों को सरल एवं सुगम्य बनाना है।

इस खण्ड लेखन का मुख्य ध्येय योग साधना की पुरातन परम्परा को चिर जीवंत रखना है। ऋषि-महर्षियों द्वारा विविध प्रयोग एवं साधनाओं के आधार पर चुनिंदा एवं रहस्यभूत योग साधनाएँ ही जन सामान्य में लाई गई। उनमें भी सरल, सुबोध एवं लाभदायी प्रवृत्तियाँ ही चिरस्थायी बन पाई। इन विशिष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधनाओं का लाभ उठाकर हम भी अपने जीवन को रहस्यमयी सिद्धियों से परिपूर्ण बना सकते हैं।

इस शोध कार्य के अंतिम खंड को पूर्णरूपेण आधुनिक युग की अपेक्षा से प्रस्तुत किया गया है। 21 शोध खण्डों में गुम्फित इस शोध कार्य का 21 वाँ खण्ड वर्तमान में चिकित्सा हेतु उपयोग में ली जाने वाली मुद्राओं को नए रूप में प्रस्तुत करता है।

खण्ड-21

आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?

आज समाज के सामने स्वास्थ्य का प्रश्न प्रमुख रूप से उपस्थित है। यदि विश्व समाज के स्वास्थ्य का बारीकी से अवलोकन किया जाए तो ज्ञात होता है कि अधिकांश व्यक्ति स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत कमजोर हैं। जबकि आज के विज्ञान ने हर क्षेत्र में अपेक्षाधिक उन्नति की है। वस्तुतः यह अति विकास ही जाने-अनजाने प्रकृति में अनचाहे परिवर्तन ला रहा है। संपूर्ण विश्व का वातावरण विशेष रूप से दूषित होता जा रहा है। आणविक परीक्षणों के कारण वातावरण में विषाक्त (जहरीले) तत्त्व बढ़ते जा रहे हैं। विशाल इन्डस्ट्रीज से बढ़ रहा जल, वायु एवं ध्वनि प्रदूषण समाज एवं राष्ट्र के लिए खतरे की घण्टी है। सुविधाओं की वृद्धि तो हो रही है परन्तु साथ में समस्याएँ भी निरंतर बढ़ रही है। यथार्थ तत्त्व यह है कि आधुनिक विज्ञान और आधुनिक विचारधारा वातावरण को समुचित रूप से शुद्ध और स्वस्थ रखने में असफल सिद्ध हुई है। हमारी वर्तमान जीवन शैली इन दूषणों को अधिक बढ़ावा ही दे रही है।

वातावरण की विकृति भी दो प्रकार की होती है– आन्तरिक और बाह्य। बड़े वैज्ञानिक परीक्षण बाह्य प्रकृति को विकृत कर रहे हैं और यही विकृतियाँ आन्तरिक विकारों में भी हेतुभूत बन रही है। बाह्य प्रकृति को ठीक करने के लिए नियंत्रण एवं उपचार आवश्यक है तथा आंतरिक स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए प्राकृतिक चिकित्सा, मंत्र एवं औषधि प्रयोग, ध्यान-प्राणायाम आदि आवश्यक है। मनुष्य के शरीर में स्थित तत्त्वों की विकृति मुद्राओं के द्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सरलतापूर्वक एवं शीघ्रातिशीघ्र ठीक की जा सकती है। मुद्रा विज्ञान सकल विश्व एवं मानव जगत के कल्याण के लिए वरदान रूप है। आज आवश्यकता है तो भारतीय ऋषि-मुनियों द्वारा खोजे गए इस विज्ञान के वैज्ञानिक रूप में प्रचार की।

इसी लक्ष्य के साथ खण्ड-21 का गुंफन किया गया है। यह खण्ड जन साधारण में प्रचलित मुद्राओं का सविधि वैज्ञानिक स्वरूप एवं अप्रत्याशित लाभों की चर्चा तीन अध्यायों में करता है।

प्रथम अध्याय में मुद्राओं से प्रभावित सप्त चक्र आदि के विशिष्ट प्रभाव एवं मुद्रा बनाने के नियम-उपनियम बताए हैं।

इस खण्ड का **द्वितीय अध्याय** आधुनिक चिकित्सा पद्धति में प्रचलित मुद्राओं का प्रासंगिक विवेचन करता है।

इस अध्याय में वर्णित मुद्राएँ किसी भी यौगिक आसन में बैठकर दैनिक क्रिया-कलाप आदि करते हुए धारण की जा सकती है। बहुत सी मुद्राएँ ऐसी है जो हर स्थिति में अर्थात सोते-जागते, उठते-बैठते कभी भी और कहीं भी धारण की जा सकती है। इनका लाभ भी यथाशीघ्र प्राप्त होता है। अधिकांश मुद्राएँ 45 मिनट में अपना प्रभाव दिखाना प्रारंभ कर देती है तथा कुछ मुद्राएँ शरीर पर तत्काल भी प्रभाव दिखाती है। इन मुद्राओं को धारण करना भी आसान होता है।

प्रस्तुत अध्याय में 33 ऐसी मुद्राओं का विस्तृत वर्णन है जिनका वर्तमान चिकित्सा पद्धति में प्रयोग किया जाता है। इन मुद्राओं का स्वरूप, तद्निर्माण विधि एवं उसके द्वारा प्राप्त होने वाले परिणामों की चर्चा यहाँ की गई है।

इन मुद्राओं को पाठक वर्ग बिना किसी विशेषज्ञ की सहायता के भी धारण कर सकते हैं तथा विविध रोगों में आश्चर्यकारी लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

इस खण्ड के **अंतिम अध्याय** में विभिन्न रोगों के निवारण में उपयोगी मुद्राओं की सूची दी गई है। एक ही रोग के निवारण हेतु कौन-कौन सी मुद्राएँ उपयोगी हो सकती हैं इसका उल्लेख इस अध्याय के माध्यम से प्राप्त होता है।

इस खण्ड का मुख्य लक्ष्य आज के प्रगतिशील युग में अच्छे स्वास्थ्य की प्राप्ति है। क्योंकि स्वस्थ तन और मन ही प्रगति को निराबाध रूप में कायम रख सकता है।

इस शोध प्रबन्ध का चौथा भाग मुद्रा योग की विश्व व्यापकता एवं प्रभावकता को सिद्ध तो करता ही है। साथ ही दैनिक कार्यों में जागृति लाते हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वस्थ व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के निर्माण हेतु भी प्रेरणा देता है। सात खण्डों में संयोजित यह भाग सात्त्विक एवं सकारात्मक जीवन हेतु प्रेरित करते हुए जीवन के सर्वतोमुखी विकास में सहयोगी बने यही शुभेच्छा है।

संक्षेप में कहें तो चार भागों में गुम्फित जैन विधि-विधानों की यह तुलनात्मक समीक्षा तो विधि-विधानों के महासागर से निकला हुआ मात्र एक बिन्दु है। समय की मर्यादा, विषयों की बहुलता एवं मार्गदर्शन की अल्पता के कारण अभी भी कई रहस्यात्मक पक्ष अनछुए हैं। कई ऐसी विधियाँ भी है जैसे तीर्थयात्रा विधि, तिथि विधि, संलेखना विधि, ध्यान विधि आदि जिन पर मौलिक कार्य हो सकता है परन्तु अभी इनकी चर्चा इसमें नहीं की है। जैन विधि-विधान एक बृहत् विषय है। आगम युग से अब तक इस पर हजारों रचनाएँ हैं उन्हें किसी एक व्यक्ति द्वारा या किसी एक शोध में समाहित करना असंभव है।

यद्यपि 21 खण्डों में गुम्फित इस बृहद शोध कार्य के माध्यम से अधिकांश जैन विधि-विधानों का त्रिकाल प्रासंगिक स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। जैनाचार्यों ने क्रिया-विधानों का निर्देशन अनेक पहलुओं को ध्यान में रखकर किया है। इसमें कालानुसार परिवर्तन एवं परिवर्धन भी होता रहा। कुछ परिवर्तन किसी परिस्थिति या काल विशेष के लिए किए गए थे जो बाद में रूढ़ परम्परा बनकर रह गए।

यदि आधुनिक जीवनशैली की अपेक्षा से विचार करें तो आज बहुतायत वर्ग इन विधानों से ही अपरिचित हैं अत: उनमें अन्तरगर्भित हेतु एवं उद्देश्यों के विषय में जानकारी का पूर्ण अभाव ही है। इस कारण तद्विषयक रुचि का निर्माण होना प्राय: असंभव है। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए इस विषयक जागृति लाना एवं युवावर्ग का इस तरफ ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है।

इन शोध खण्डों के माध्यम से जिनधर्म में प्रचलित मुख्य विधि-विधानों के प्रारंभिक रूप से लेकर अब तक के स्वरूप का क्रमिक अध्ययन विविध परिप्रेक्ष्यों में किया गया है। यह वर्णन निवृत्तिमूलक जैन संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे प्राणवंत बनाए रखने में सहायक बनेगा। साथ ही आज क्षणै: क्षणै: विलुप्तता की ओर अग्रसर हो रही आर्य संस्कृति के पुन: जीवनीकरण एवं सिंचन के लिए प्रेरणाभूत बनेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस शोध कार्य का मुख्य लक्ष्य जैन दर्शन की विविधता एवं व्यापकता को दिग्दर्शित करते हुए उसकी जन उपयोगिता एवं वैश्विक आवश्यकता को प्रस्तुत करना है। जैन वाङ्मय के इस अनुशीलन के द्वारा ज्ञान पिपासु एवं शोधार्थी वर्ग को एक नवीन दिशा प्राप्त हो पाएं तथा जन-जन के अन्तरहृदय में विधि-विधानों के प्रति सम्मान एवं सुरुचि उत्पन्न हो पाएं। इसी के साथ

जैन संस्कृति जन संस्कृति बने
आर्य प्रजा विश्व का आदर्श बने
प्राचीन वाङ्मय वर्तमान जीवन शैली का आधार बने
विधि-विधान समाज निर्माण का स्तम्भ बने

इसी मनोभिलाषा के साथ अन्त में कहना चाहूँगी कि

जिन विषयों पर जितनी सामग्री उपलब्ध हो पाई है उसे यथासंभव पाठक वर्ग की रूचि एवं आवश्यकता अनुसार प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। तदुपरान्त भी उसमें जिनमत के विपरीत कोई प्ररूपणा कर दी हो अथवा कहीं पर आगमोक्त वाक्यों का अभिप्राय सम्यक रूप से न समझा हो तो उसके लिए अन्तःकरण पूर्वक मिच्छामि दुक्कडम्।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सज्जनमणि ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त सूची पत्र

क्र.	नाम	ले./संपा./अनु.	मूल्य
1.	सज्जन जिन वन्दन विधि	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
2.	सज्जन सद्ज्ञान प्रवेशिका	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
3.	सज्जन पूजामृत (पूजा संग्रह)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
4.	सज्जन वंदनामृत (नवपद आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
5.	सज्जन अर्चनामृत (बीसस्थानक तप विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
6.	सज्जन आराधनामृत (नव्वाणु यात्रा विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
7.	सज्जन ज्ञान विधि	साध्वी प्रियदर्शनाश्री	सदुपयोग
		साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
8.	पंच प्रतिक्रमण सूत्र	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
9.	तप से सज्जन बने विचक्षण	साध्वी मणिप्रभाश्री	सदुपयोग
	(चातुर्मासिक पर्व एवं तप आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
10.	मणिमंथन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
11.	सज्जन सद्ज्ञान सुधा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
12.	चौबीस तीर्थंकर चरित्र (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
13.	सज्जन गीत गुंजन (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
14.	दर्पण विशेषांक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
15.	विधिमार्गप्रपा (सानुवाद)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
16.	जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध सार	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
17.	जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
18.	जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
19.	जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी संस्कारों का प्रासंगिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
20.	जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों की त्रैकालिक उपयोगिता, नव्ययुग के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
21.	जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

22.	जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
23.	पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
24.	आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
25.	तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन, आगमों से अब तक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
26.	प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
27.	षडावश्यक की उपादेयता, भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
28.	प्रतिक्रमण, एक रहस्यमयी योग साधना	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
29.	पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
30.	प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
31.	मुद्रा योग एक अनुसंधान संस्कृति के आलोक में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
32.	नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
33.	जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
34.	हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता, चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
35.	बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
36.	यौगिक मुद्राएँ, मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
37.	आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
38.	सज्जन तप प्रवेशिका	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
39.	शंका नवि चित्त धरिए	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विधि संशोधिका का अणु परिचय

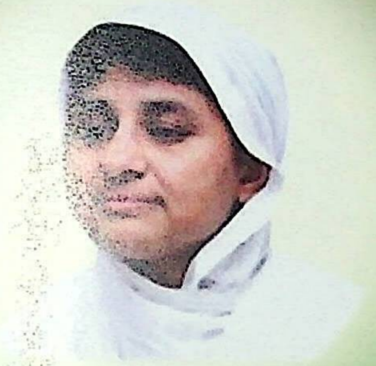

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी (D.Lit.)

नाम	:	नारंगी उर्फ निशा
माता-पिता	:	विमलादेवी केसरीचंद छाजेड
जन्म	:	श्रावण वदि अष्टमी, सन् 1971 गढ सिवाना
दीक्षा	:	वैशाख सुदी छट्ठ, सन् 1983, गढ सिवाना
दीक्षा नाम	:	सौम्यगुणा श्री
दीक्षा गुरु	:	प्रवर्त्तिनी महोदया प. पू. सज्जनमणि श्रीजी म. सा.
शिक्षा गुरु	:	संघरत्ना प. पू. शशिप्रभा श्रीजी म. सा.
अध्ययन	:	जैन दर्शन में आचार्य, विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ पर Ph.D. कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नंदीसूत्र आदि आगम कंठस्थ, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान।
रचित, अनुवादित एवं सम्पादित साहित्य	:	तीर्थंकर चरित्र, सद्ज्ञानसुधा, मणिमंथन, अनुवाद-विधिमार्गप्रपा, पर्युषण प्रवचन, तत्वज्ञान प्रवेशिका, सज्जन गीत गुंजन (भाग : १-२)
विचरण	:	राजस्थान, गुजरात, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, थलीप्रदेश, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़।
विशिष्टता	:	सौम्य स्वभावी, मितभाषी, कोकिल कंठी, सरस्वती की कृपापात्री, स्वाध्याय निमग्ना, गुरु निश्रारत।
तपाराधना	:	श्रेणीतप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, ग्यारह, अट्ठाई बीसस्थानक, नवपद ओली, वर्धमान ओली, पखवासा, डेढ मासी, दो मासी आदि अनेक तप।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0:In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

SAJJANMANI GRANTHMALA
Website : www.jainsajjanmani.com,
E-mail : vidhiprabha@gmail.com
ISBN 978-81-910801-6-2 (I)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi